श्य

ंरक्षण तथा प्रसार।

वेषण।

नुसंधान।

कला का पर्यालोचन।

... पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिए प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाशित न हों।

संपादक-मंडल

हजारीप्रसाद द्विवेदी : करुणापति त्रिपाठी

कृष्णानंद (संयोजक)

सहायक संपादक

राधाविनोद गोस्वामी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५९] संवत् २०११ [अंक ३-४

समरतरंग

उड़िया ऐतिहासिक खंडकाव्य

[श्री घनश्यामदास]

'समरतरंग' अनेक ऐतिहासिक सूचनाओं का स्रोत तथा उड़िया साहित्य की निधि का एक दमकता हुआ रत्न है। कई दृष्टियों से यह काव्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उड़िया का प्राचीन साहित्य मुख्यतः शृंगार-रस-प्रधान है। उसके जन्मकाल से आज तक कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जिसके काव्य में देशभक्ति तथा मातृभूमि की गौरवगरिमा के भाव पाए जाते हों। ईसवीय अठारहवीं शती में आविर्भूत उड़िया कवि ब्रजनाथ बड़जेना ने 'समरतरंग' की रचना कर इस अभाव की पूर्ति की। जिस प्रकार हिंदी कविता के शृंगारकाल में भूषण ने अपने ऐतिहासिक वीर नायक शिवाजी के गुणों और युद्धों का वर्णन अपनी ओजमयी वाणी में किया उसी प्रकार और लगभग उसी काल में ब्रजनाथ बड़जेना ने अपने प्रतापी आश्रय-दाता ढेकानाल के राजा त्रिलोचन महींद्र बहादुर के युद्ध एवं गुणों का वर्णन अपने वीररस के काव्य में किया है। यह उच्चकोटि के काव्यगुणों से पूर्ण होने के साथ ही तत्कालीन कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश डालता है। इस काव्य का चतुर्थ अध्याय प्रायः पूरे का पूरा हिंदी में है। एक उड़िया कवि के उड़िया काव्य में अठारहवीं शती की हिंदी भाषा का यह नमूना देखने योग्य है। आगे ग्रंथ

के आलोचनात्मक परिचय के प्रसंग में उसके आवश्यक उद्धरण भी प्रस्तुत किए जायँगे।

कवि ब्रजनाथ बड़जेना और उनकी कृतियाँ

'समरतरंग' के अंतिम अध्याय में कवि ने अपना जो परिचय दिया है उसके अनुसार उनका परिवार उड़ीसा के अंतर्गत ढेकानाल राज्य में ढेकानाल दरबार के आश्रय में रहता था। कवि ने भारत के तत्कालीन कितने ही राजदरबार देखे थे। उड़िया के अतल जल में रहकर भी यह प्रतिभासंपन्न कवि अनेक भारतीय भाषाओं के भँवर में चंचल मीन की तरह सहज भाव से संतरण कर सकता था। संस्कृत, उड़िया, हिंदी, तेलुगु, बंगला आदि कई भाषाओं पर उन्होंने अधिकार प्राप्त कर लिया था। यही नहीं, स्वयं अपने कथनानुसार वे एक कुशल चित्रकार भी थे और उन्होंने पट एवं ताड़पत्र पर अनेक सुंदर चित्र बनाए थे। उनकी रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों में हैं। गद्य में उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'चतुरविनोद' है तथा पद्य में 'समरतरंग'। अन्य पद्य रचनाएँ 'श्यामरासोत्सव', 'अंबिकाविलास' और 'गुंडीया-विजे' भी उच्चकोटि की कृतियाँ हैं। कवि ने 'चतुरविनोद' में हास्यरस, 'श्यामरासो-त्सव' में शृंगाररस तथा 'गुंडीयाविजे' में एक साथ प्रायः सभी रसों की सृष्टि की है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'समरतरंग' का एक अध्याय हिंदी में है, पर 'गुंडीयाविजे' पूरे का पूरा हिंदी में ही लिखा गया है जिसका परिचय किसी अन्य लेख में दिया जायगा।

समरतरंग का रचनाकाल

अंतःसाक्ष्य ('समरतरंग' में आए हुए व्यक्ति एवं शब्द) तथा बहिःसाक्ष्य (नई दिल्ली के राष्ट्रीय पुरालेख संग्रहालय में सुरक्षित फारसी तथा अंग्रेजी कागज-पत्र) के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'समरतरंग' की रचना ब्रजनाथ बड़जेना ने ईसवीय सन् १७८० – ८१ के बीच की।

काव्य-वस्तु

इस काव्य में कवि ने नागपुर के राजा मुधोजी भोंसला के सप्तदशवर्षीय द्वितीयपुत्र चिमनाजी बापू तथा ढेकानाल (उड़ीसा की छब्बीस देशी रियासतों में से एक, जो अब उड़ीसा राज्य में मिला ली गई है) के राजा त्रिलोचन महींद्र बहादुर के बीच हुए युद्ध का वीरतापूर्ण वर्णन स्वयं अपने ज्ञान के आधार पर किया है।

परंतु इसमें काव्यात्मक सौंदर्य लाने के लिए कवि ने अपनी कल्पनाशक्ति से भी काम लिया है। कवि द्वारा अपने नायक और आश्रयदाता के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने के लिए उसमें सभी उत्तम गुणों के एकत्र वर्णन, सेनानायकों और दरबारियों के मुख से उच्च भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा इसी प्रकार परपक्ष के अपकर्षसूचक प्रसंगों में तथ्य के अतिरिक्त कल्पना का पुट भी प्रतीत होता है।

यह काव्य सात खंडों में रचा गया है। प्रथम खंड श्रीकृष्ण, जगत्पति, जगन्नाथ, सुभद्रा और सुदर्शन की प्रार्थना से प्रारंभ होता है। फिर ढेकानालनरेश के पूर्वजों के नाम तथा उनकी सफलता का वर्णन कर कवि अपने नायक राजा त्रिलोचन महींद्र बहादुर के गुणों की प्रशंसा करता है। तदनंतर उड़ीसा के मराठा राज्यपाल राजाराम पंडित द्वारा वार्षिक कर की वसूली के लिए ढेकानाल पर किए गए आक्रमणों और राजा त्रिलोचन के हाथों उसकी अपमानजनक हारों का वर्णन है। इन हारों का समाचार जब नागपुर पहुँचता है तो भोंसला राजा ढेकानाल के मानमर्दन का संकल्प कर एक बड़ी सेना के साथ अपने द्वितीय पुत्र चिमना जी बापू को भेजता है। चिमना जी ससैन्य आकर कटक और ढेकानाल के बीच पड़ाव डाल देता है।

द्वितीय खंड में एक ओर मराठा सेना युद्ध की तैयारी करने लगती है, दूसरी ओर ढेकानाल के लोग उनसे अत्यंत भयभीत हो जाते हैं और राजा त्रिलोचन उन्हें आश्वासन देकर राज्य की रक्षा के लिए उद्यत हो जाते हैं।

तृतीय खंड में मराठे तोपों से धुएँ और अग्नि की वर्षा करते हुए उसकी ओट में आक्रमण के लिये आगे बढ़ते हैं। उनकी तोपें इतनी भारी हैं कि उन्हें खींचने के लिये १०-१२ जोड़ी भैंसों की आवश्यकता पड़ती है। ढेकानाल की सेना पर भयंकर आक्रमण होता है, परंतु ढेकानाल की सेना अपनी रक्षा करती हुई जमकर वीरता से युद्ध करती और मराठों को आगे बढ़ने से रोक देती है। मराठों को दो मील पीछे हटना पड़ता है। इस हार से उनमें रोना-धोना मच जाता है और वे इस दुर्घटना के लिये राजाराम पंडित और मंजु चौधरी को दोषी ठहराते हैं।

चतुर्थ खंड में पुनः दोनों सेनाओं का भयंकर युद्ध होता है। मराठे इतने भयभीत हो गए हैं कि रक्षकों के बिना वे शौच स्नानादि भी नहीं कर सकते।

चिमना जी पराजयजनित दुःख और क्रोध से क्षुब्ध होकर अपने सरदारों की भर्त्सना करते हैं। सरदारगण दूसरे दिन शत्रु पर अचानक आक्रमण करने की प्रतिज्ञा करते हैं, परंतु चिमना जी के साथ आए नागपुर के वृद्ध मराठा मंत्री भवानी कालो पंडित आक्रमण से कोई लाभ न समझ कूटनीति से काम लेते हैं और धर्मधारिया नामक एक व्यक्ति से राजा त्रिलोचन के पास इस आशय का संवाद भेजते हैं कि 'आपने निस्संदेह बड़ी वीरता से युद्ध किया है। परंतु मराठों से व्यर्थ शत्रुता कर क्यों धन-जन की हानि करते हैं। केवल दो दिनों के लिये आप किला खाली कर दें तो हम उसे अपनी सांकेतिक विजय मानकर फिर राज्य आपको लौटा देंगे। आप नागपुर के भोंसला राजा को भली भाँति जानते हैं। मराठा सेना बिना किसी विजय के ढेकानाल नहीं छोड़ेगी।' राजा त्रिलोचन इस प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं।

पंचम खंड में राजा त्रिलोचन अपने मंत्रियों, सेनानायकों और सरदारों को बुला कर एक एक से प्रश्न करते हैं कि युद्ध जारी रखा जाय या किला छोड़ दिया जाय। सबके उत्तर सुनकर राजा कहते हैं—'तुम लोग इतना घुमा फिरा कर क्यों उत्तर देते हो ? किला छोड़-भागने की सब सलाह देते हैं, रहने को कोई नहीं कहता। जिसे युद्ध से भय हो वह शस्त्र छोड़ कर किसानी करे। मैं तो गढ़ नहीं छोड़ूँगा।' उनके इस प्रकार युद्ध के निश्चय की बात गढ़ में फैल जाती है, तब लोग इसे राजा का पागलपन बताते और उन्हें युद्ध से विरत करने का प्रयत्न करते हैं। अंत में उनके विरोध के कारण राजा गढ़ छोड़ने को विवश होते हैं।

षष्ठ खंड में किला छोड़ने के बाद की अवस्था का, विशेषतः उन कपटी उड़िया खांडायतों का वर्णन है जो मराठों के मित्र बनकर ढेकानाल के विरुद्ध लड़ते थे। सब राजा ढेकानाल नरेश से मित्रता कर लेते हैं और पुरी के राजा गजपति उन्हें 'महींद्र बहादुर' की उपाधि देते हैं; परंतु क्योंझर का राजा मित्रता करने से इनकार करता है। वह ढेकानाल के सीमावर्ती गाँवों पर आक्रमण करता और दो बार युद्ध में परास्त होता है।

सप्तम खंड में कवि द्वारा अपने काव्य की प्रशंसा और राजा त्रिलोचन के गुणों का विस्तार से वर्णन है। उस समय के राजाओं के स्वभाव और चर्या की दृष्टि से वर्गीकरण कर त्रिलोचन को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। कवि ने अपने जीवन का

भी कुछ परिचय दिया है और राजा त्रिलोचन के चरणों में अपने काव्य के समर्पण तथा उनकी स्वीकृति का वर्णन किया है। कवि के ही वचनानुसार इस काव्य का नाम 'समरतरंग' है और जो मर्द है, वही इसका रसास्वादन कर सकता है। अपने संबंध में कवि ने नम्रतापूर्वक लिखा है कि मेरी गिनती गुणवंतों में नहीं हो सकती, फिर भी गुणियों का अनुसरण करने से कुछ कविता लिख डाली है जिसमें कुछ अदोष और सरस तथा कुछ सदोष और नीरस है। मैंने संस्कृत, प्राकृत, खोरठा और अन्य दूसरी भाषाओं में भी कविता लिखी है। कविता का रूप चौपदी, चौतीस[1], बोली, छंद, प्रबंध, ढकढमाली है। मैं कागज और कपड़े पर सुंदर रंगीन चित्र भी बना सकता हूँ और अपने काव्य में ताड़ के पत्ते पर तेज लोहे की कलम से खुरच कर मैंने कितने ही चित्र बनाए हैं[2] जो देखने वालों को बहुत आनंद देते हैं। पर इस सबका श्रेय मुझे नहीं, यह तो राजा त्रिलोचन की कृपा का फल है।

१—चौतीस छंदों की कविता, जिसके प्रत्येक छंद की प्रथम पंक्ति क्रम से क, ख आदि अक्षरों से आरंभ होती है। यह वर्णक्रम क्ष तक चलता है।

२—कागज पर कलम से लिखना उड़ीसा में अंग्रेजों के ही समय में शुरू हुआ। इसके पहले यहाँ के कवि, महाजन और जमींदार अपने काव्य और हिसाब किताब ताड़ के पत्तों पर बहुत महीन तेज लोहे की कलम से खुरच कर लिखा करते थे। आधुनिक उड़िया, बँगला और देवनागरी लिपियों का उद्गम कुटिल लिपि से हुआ है, जिसका प्राचीनकाल में प्रयोग होता था। उड़िया लिपि के अक्षरों को गोलाकार देखकर लोग समझते हैं कि इसका बँगला और देवनागरी से कोई संबंध नहीं, पर ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि प्रत्येक अक्षर का ऊपरी भाग अर्ध-गोलाकार होने पर भी निचला भाग बँगला और देवनागरी से मिलताजुलता है। वस्तुतः देवनागरी अक्षरों की शिरोरेखा ही उड़िया में अर्ध-गोलाकार बन जाती है। इसका मुख्य कारण यह है उड़िया बारहवीं से उन्नीसवीं शती तक ताड़ के पत्ते पर लोहे की नुकीली कलम से लिखी जाती रही, और शिरोरेखा की सीधी लकीर से पत्ता फट जा सकता था, अतः उसे गोलाकार बना दिया जाता था। लिखने के बाद अक्षरों को स्पष्ट करने के लिये उनपर तेल और राख या सेम की पत्तियों का रस लगा दिया जाता था। सावधानी से रखने पर तीन चार सौ वर्षों तक ऐसे लेख सुरक्षित रहते थे। चित्र भी इसी ढंग से बनाए जाते थे। बड़ा चित्र बनाने के लिये पत्रों को सूत से जोड़ लिया जाता था और जोड़ों पर से वह मोड़कर रखा जा सकता था। उड़ीसा के राज्य-संग्रहालय में ऐसी पोथियाँ और चित्र सुरक्षित हैं।

कवि ने अपना काव्य राजा त्रिलोचन के चरणों में समर्पित किया। इससे वे इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने तत्काल इन्हें ब्राह्मणी नदी के किनारे 'अपंग' प्रांत का 'नूआगाँ' नामक एक गाँव दे दिया। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष ५०० कहाण[3] कौड़ियाँ भी इन्हें देने की व्यवस्था करने के साथ दो सौ नगद रुपए और रेशमी वस्त्र भेंट किए।

अंत में कृष्ण और जगन्नाथ की स्तुति से काव्य समाप्त होता है।

साहित्यिक मूल्यांकन

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'समर तरंग' सात खंडों में रचित है। प्रत्येक खंड में भिन्न प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है। ये छंद गेय रागों में बद्ध हैं। प्रथम खंड का राग 'रसकोईला', द्वितीय का 'पहाड़िया' तृतीय का 'चक्रकेली', चतुर्थ का 'कल्याण आहारी', पंचम का 'आषाढ़ शुक्ल', षष्ठ का 'घंटा रव' तथा सप्तम का 'केदार कामोदी' है। भाषा सरल, स्वच्छ, प्रवाहमयी तथा वर्णन अत्यंत सजीव, ओजपूर्ण एवं सरस हैं। अलंकारों का भी सुंदर और प्रचुर प्रयोग हुआ है। अपने नायक राजा त्रिलोचन की वीरता और उनके चरित्र की उदात्तता को चित्रित करने में कवि पूर्ण रूप से सफल हुआ है। त्रिलोचन की कीर्ति का वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है—

त्रिलोचन नामे ख्यात जे।
राजा महींद्र बहादुर पद जा संसार मध्ये विदित जे
ढेकानाल मही गगन शशी। लक्षणवंत दुष्तम नाशी।
कलाकार तारा आनंदकर। उदे होइ राजे सर्व हृदय रमे।
उज्वल कला प्रकाशे जे।
पद्मीनी मुद्रित होए जा लोकने सूर गण कू मे तोषे जे

३-प्राचीनकाल से लेकर अंग्रेजों के आने के समय तक (अर्थात् ई० १८१५ तक) उड़ीसा में कौड़ी से ही कारबार होता था, जिसका मान इस प्रकार है—४ कौड़ी = १ गंडा; २० गंडा = १ पन; १६ पन = १ कहाण। इस प्रकार एक कहाण = १२८० कौड़ी। अंग्रेजों के समय में कौड़ियों से मालगुजारी देना बंद कर दिया गया। किंतु लेखक ने अपने बचपन (सन् १९११) में देखा है कि उसके स्कूल के हेडपंडित दिन भर में एक पैसा खर्च करते थे, उसमें ५-७ कौड़ियों का नमक, मसाला आदि खरीदते थे।

आहार कीरति कांती प्रबले। परिपूर्ण होइ महीमंडले।
स्थान न पाई आहारी पड़ीला। दश दिग रे परिपूर्ण हेला से।
नहीं स्थान होए नाहीं जे।
ताराकुल छले ठावे ठावे आकाशे लोटंती जाइ जे।

[अर्थात् राजा त्रिलोचन, जिनकी संसार प्रसिद्ध पदवी राजा महींद्र बहादुर है, ढेकानाल भूमि-नभ के चंद्र हैं—सुलक्षणवान और दुःख-तम का नाश करनेवाले तथा कलाकार रूपी तारागण को आनंद देनेवाले। अपनी उज्ज्वल कला के प्रकाश से वे सबके हृदय को आनंदित करते हैं। वे स्वयं वीर हैं, वीरों को संतुष्ट करते हैं। वे ऐसे सुंदर हैं कि उनके अवलोकन से पद्मिनियाँ मोहित हो जाती हैं ('पद्मिनी' और 'मुद्रित' में श्लेप दर्शनीय है)। उनकी कीर्ति महिमंडल में फैल गई। पृथ्वी पर पर्याप्त स्थान न पाकर वह दशों दिशाओं में भर गई। वहाँ भी समा न सकी तो आकाश में उड़कर तारा-कुल के रूप में सर्वत्र बिखर गई!]

चिमना जी की सेना के जमाव और आतंक का वर्णन कवि इस प्रकार करता है--

सारा फउज पाकइले आनी। महा भय रे कंपीला धरणी।
पवन न चली होईला स्थीर। सुखिला सरिता पियंते नीर से।
अबाट होईला बाट जे
दश दिग ध्वनी पूरीला बाजंते बाजी करी कांठ घंट जे।

[फौज के भय से धरती काँपने लगी। पवन का चलना बंद हो गया। पानी पीने से नदियाँ सूख गई। जहां मार्ग नहीं था वहाँ मार्ग बन गया। बाजों और हाथियों के घंटों के शब्द से दशों दिशाएँ पूरित हो गई।]

द्वितीय खंड में कवि ने मराठों की बढ़ती हुई सेना का वर्णन करते हुए उसकी तुलना अगर सागर से की है जिसमें बढ़ते हुए सैनिकों की पंक्तियाँ तरंगे हैं, हाथी मगर, ऊँट घड़ियाल, घोड़े मछलियाँ, श्वेत चँवर समुद्र-फेन, झंडे (ऊँची) लहरें, तंबू जहाज तथा शस्त्रास्त्र छोटी छोटी मछलियाँ हैं। ढेकानाल के लोग जब उससे भयभीत होकर राजा से निवेदन करते हैं तो उन्हें धीरज दिलाते हुए राजा अपने को मंदर गिरि कहते हैं और अपने लोगों को सुर और असुर बनकर मराठा सेना को मथ डालने के लिये ललकारते हैं जिससे कीर्तिरत्न की उपलब्धि होगी।

परास्त मराठा सेना की दुर्दशा तथा चिमना जी द्वारा अपने सरदारों की क्षोभपूर्ण भर्त्सना का वर्णन कवि ने क्रमशः उड़िया-मिश्रित हिंदी एवं केवल हिंदी में किया है। मराठा सेना में अनेक प्रांतों के हिंदू और मुसलमान सैनिक थे। उक्त वर्णन जहाँ अति प्रबल शत्रु की पराजित अवस्था को सामने रखकर छोटी सी ढेकानाल सेना के अद्भुत पराक्रम को व्यंजित करते हैं वहाँ उस समय की सर्वप्रांतीय हिंदी भाषा का रूप भी एक उड़िया कवि की लेखनी से हमारे संमुख प्रस्तुत करते हैं—

केहु बोलइ हाहा बेटा मेरा। किसे गुण बिसारूँ भाई तेरा।
केहु कांदइ हाहा मेरा भाई। किया गुना मुजक छोड़ गई।
केहु बोले हाहा बेटी मेरी छोटी। हाहा जुआई गया सिर काटी।
के बोलइ क्या किया खोदाई। नाला फुटी जो गिया मेरा भाई।
केहु छाती परे कर ठुकई। हाहा मेरा बाबा बोली डाकई।
तही कहाकु खुआइ माजूम। गुला काडंते जडि अछी काम।
केहु फाराडा कु नेई दहुछी। केहु फाराडा काड़ी घाआ सिआई।[४]

बालक मराठा सेनापति चिमना जी का अपने सरदारों को फटकारने का प्रसंग भी देखने ही योग्य है। सरदार लोग उस फटकार से लज्जित न होकर जल उठते हैं और पराजय का सारा दोष राजाराम पंडित पर रखते हैं —

अब सब सरदार बिचारो। एकठो रगड़ हाथ न आया।
भले भले तुम यारो।
ढाल ढाल भर पैसे लेके कोई अब मार दो किल्ला।
थोड़ा गढ़ टूक लड़ने नाहीं क्या करूँ जाके बंगाला।
राजा मुझे क्या कहेगा काम नहीं बड़ी थोड़ा।
लाख फऊज अब स.थ है मेरा केता हातीनी घोड़ा।
जाते जाते केता किल्ला लीया तोप के मारे।
बीस बीस रोज सड़ गयी पड़के क्या कहूँ भाई तुमारे।

४—इन अंतिम दो पंक्तियों से पता चलता है कि उन दिनों माजूम खिलाकर (जैसे आजकल क्लोरोफार्म सुँघाकर) शरीर में घुसी हुई गोली निकाला करते थे और घायलों को घायलगाड़ी में ले जाकर घावों को सीते थे।

लीकले सब तुम पाँव उठाके मारने कू फलकत्ता।
जोर न पाये उठाओ न ढीला पाहाड़ तोड़ ममता।
मूँछ दाढ़ी पर हाथ रखो मत कुच्छू काम नहीं कीया।
बात सुनी ब्रजनाथ कहे सरदार लोक जल गीया।
बोईल सुनो राजा तुम कहो जाहा मेरा गुना कैसे भाई।
ब्रह्मणा राजाराम सभू डूबीया।
कीया काम बद कीया हो जो राजा सारा फऊज झूकी दीया।

इस पराजय के बाद जब मराठा मंत्री का संदेश किला छोड़ने के लिए राजा त्रिलोचन को मिलता है तो वे अपने सरदारों से पृथकपृथक सम्मति माँगते हैं और उनकी बातें सुनने के बाद वे जो अपूर्व वीरत्व-भाव-पूर्ण व्याख्यान देते हैं उसका भी नमूना देखिए —

शुणि कहंती तहीं नरसाईं, एते कथा कियाँ कह घोड़ाई।
समस्ते कहुछ पलाइ जिबा, केहित कहिल नाहिं रहिला।
मुंन जिबी छाड़ि, भला केमंते मोते देब तड़ी॥
हतिआर बाँधि थिबा लोकर, मरिबा कू जेवे होइब डर।
हतिआर छाड़ि क्षत कमाउ, तेबे ताहा कू कि कहिब आउ॥
निसत जीइबा, क्षत्रिंक शोभा रणे प्राण देबा॥
भीम अर्जुन द्रोण कर्ण बीर, काहिं अच्छंतिरि घेनि शरीर।
यशहिं मात्र जाइ अच्छि रहि, नामरद कू के तुंडे बसाइ।
एहा न घेनिल, गड़ छाड़ छाड़ समस्ते बोल॥
काहार पृथ्वी के संगे नेब, यश अपयश दुइ रहिब।
जेते राजा गले पृथ्वी न जाइ, दुइ कथा रे नाम रहियाइ।
दाता शूरपण, ए दुइ बिना नाम नोहे जाण॥
देख होइ अछि केड़े मउब, लढ़ि रखिथाइ केड़े फउज।
कमर बांधियाइ दिन राति, एथूँ कि बड़ बासब संपत्ति।
छाती उठे फूलि, केमंते गड़ छाड़ बोलि॥
फउज भितरे घोड़ा पकाइ, मारे बरछी निरिभय होइ।

सती पराए पशि झासि निम्र, फेरि आइले से सकल भाव।
नोहिले से भले, बासव संगे से बसिब भले॥
इत्यादि।

[सरदारों की बातें सुनकर राजा ने कहा कि तुम लोग इतना घुमाफिरा कर क्यों बात कहते हो ? सभी किला छोड़ भागने को कहते हैं, रहने को कोई नहीं कहता। मैं तो किला छोड़कर नहीं जाऊँगा; देखूँगा मुझे कौन निकालता है। हथियार बाँधकर जो मरने से डरे उसे हथियार छोड़कर खेती करनी चाहिए। तब उसे कोई क्या लड़ने को कहेगा ? पर ऐसे जीने को धिक्कार है। क्षत्रिय की शोभा तो रण में प्राण देने ही में है। भीम, अर्जुन आदि कहाँ शरीर धारण किए हुए हैं ? उनका यश ही तो रह गया है। नामर्द का नाम कौन मुख पर लाता है ? यह तो सोचा नहीं, 'किला छोड़ दो, छोड़ दो' सभी ने कहा। भाइयो, पृथ्वी को कौन संग ले जायगा ? अरे यश, अपयश केवल यही दो रह जायंगे। परंतु यश तो इन दो के बिना नहीं हो सकता — दान और वीरता।

देखो तो सही, कितनी मौज है! लड़कर हमने कितनी बड़ी फौज को रोक रखा है! दिन रात कमर बाँधे रहते हैं। क्या इससे भी बड़ी इंद्र की संपत्ति है ! गर्व से छाती फूल उठती है। क्यों गढ़ छोड़ने को कहते हो ?

जिस प्रकार सती अपने को अग्नि में झोंकती है उसी प्रकार घोड़ा दौड़ा कर मराठा सेना में घुस जाओ और निर्भय होकर बरछी मारो, फिर उसी प्रकार लौट आओ। विजय और यश तुम्हारे हाथ है। जो न लौट सकेगा और मर जायगा वह आनंदपूर्वक इंद्र के साथ रहेगा। इत्यादि।]

इस प्रकार इस काव्य में वीर रस का सुंदर परिपाक हुआ है। भाषा, भाव, वस्तुवर्णन और चरित्रचित्रण -- इन सभी दृष्टियों से कवि को सफलता मिली है।

ऐतिहासिक भूमिका

'समरतरंग' में कवि ने ढेकानाल के युद्ध को जिस प्रकार एक पृथक और स्वतंत्र घटना के रूप में वर्णित किया है उससे तत्कालीन उस विस्तृत ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि का बोध नहीं होता जिसका उक्त युद्ध एक अंग मात्र है, यद्यपि केवल उड़ीसा की दृष्टि से उसका वही महत्व था, जो 'समरतरंग' के कर्ता ने व्यक्त किया है। उस समय अंग्रेजों और भारतीय शासकों (मराठों और मुसलमानों) के बीच चलनेवाले व्यापक सामरिक एवं कूटनीतिक चक्रों को ध्यान में रखने पर 'समरतरंग' में

चित्रित शत्रुपक्ष के चरित्र अवश्य बहुत हलके और अनैतिहासिक लगते हैं। समरतरंग में वर्णित घटनाओं और चरित्रों के ऐतिहासिक महत्त्व और यत्किंचित् उनकी ऐतिहासिक विषमताओं को हम तभी भली भाँति समझ सकते हैं जब बाह्य साक्ष्यों के आधार पर उस राजनीतिक एवं ऐतिहासिक घटनाचक्र का एक समग्र रूप प्रस्तुत कर दिया जाय जिससे ढेकानाल का युद्ध संबद्ध है।

ढेकानाल राज्य उड़ीसा के ढेकानाल जिले का एक भाग था जो अब उड़ीसा राज्य में मिला लिया गया है। यहाँ के राजा त्रिलोचन महींद्र बहादुर (सन् १७६५-९८) का तत्कालीन पड़ोसी राज्यों और मराठों पर बड़ा आतंक था। कहते हैं उनकी सेना में १०,००० पायक (सिपाही), १८०० तेलुगु और ५०० नागा थे। इनके अतिरिक्त तेरह नामी पहलवान थे जो सेना को सदा अनुशासित एवं युद्धक्षम बनाए रखते थे। अतः यदि केवल ग्यारह हजार सेना से उन्होंने चालीस हजार मराठा घुड़सवारों का सामना किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

उड़ीसा पर सन् १७५१ में मराठों ने अधिकार कर लिया था और नागपुर के भोंसला राजा मुधोजी की ओर से वहाँ राजाराम पंडित राज्यपाल थे। ढेकानाल से कर की वसूली ठीक न होने के कारण सन् १७७२ ई० में (जब बंगाल में भीषण अकाल पड़ा था, जिससे पार्श्ववर्ती प्रदेश उड़ीसा भी जर्जर हो उठा था) राजाराम ने ढेकानाल पर आक्रमण किया था, और उनकी हार हुई थी। बड़जेना ने इसका प्रारंभ में ही इस प्रकार वर्णन किया है मानो इस आक्रमण की असफलता ही सन् १७७९-८० में हुए चिमनाजी के आक्रमण का प्रत्यक्ष एवं एकमात्र कारण थी। परंतु वस्तुतः चिमनाजी के आक्रमण का संबंध, जैसा कि आगे विदित होगा, मुधोजी भोंसला की उस गहरी कूटनीति से है जो वे अंग्रेजों और दक्षिण की देशी राज्यशक्तियों के साथ चल रहे थे।

सन् १७७९ में प्रथम मराठा युद्ध के कुछ ही पहले पूना के पेशवा, नागपुर के भोंसला, मैसूर के हैदरअली और हैदराबाद के निजाम के बीच एक संधि हुई थी जिसके अनुसार इन चारों शक्तियों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध एक संयुक्त मोरचा कायम करने का प्रयत्न किया था और भोंसला, निजाम, हैदरअली और पेशवा क्रमशः बंगाल, उत्तरी सरकार, कर्नाटक और गुजरात पर एक साथ आक्रमण करने वाले थे। अंग्रेज इन सबके समान शत्रु थे अतः मुधोजी इस प्रयत्न में

सहयोग देने से इनकार नहीं कर सकते थे, परंतु वे अपनी सेना अंग्रेजों के विरुद्ध बंगाल भेजना भी नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने एक ऐसी चाल सोची जिससे एक ओर तो संधि का उल्लंघन भी न प्रतीत हो और दूसरी ओर अंग्रेजों से लड़ना भी न पड़े। यह चाल न चलकर यदि उन्होंने मित्रों का साथ दिया होता तो कदाचित् उस समय भारत का नकशा ही कुछ और हो गया होता।

ढेकानालनरेश के हाथों राजाराम पंडित की हार से समस्त उड़ीसा में आनंद और उत्साह की लहर दौड़ गई थी। अबतक किसी उड़िया राजा ने मराठों के विरुद्ध सिर उठाने का भी साहस नहीं किया था। सो अब एक छोटे से राजा से बुरी तरह हार जाने से भोंसला राजा की प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा धक्का लगा। इसे चुपचाप सह लेना राज्य की दृढ़ता के लिये भी घातक था। अतः उन्होंने तीस हजार सेना के साथ चिमनाजी को उड़ीसा भेजा। परंतु इस उद्देश्य को छिपाकर उन्होंने पेशवा को झूठमूठ लिख भेजा कि अंग्रेजों के विरुद्ध सेना बंगाल भेज दी गई है। संधि की योजना के अनुसार सेना को बिहार होकर बंगाल जाना था, जिसमें दो मास लगते। परंतु वह दूसरे रास्ते से विलंब करके मई महीने में कटक पहुँची, जहाँ उस समय वर्षा आरंभ हो जाने के कारण दिखाऊ योजना को और टालने का बहाना मिल गया और सेना कटक में ही पड़ी रही।

तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स अंग्रेजों के विरुद्ध हुई उक्त चतुष्पदी संधि की भयंकरता को भली भाँति जानता था, पर वह घबराया नहीं। उसका कटक स्थित गुप्तचर जो पोस्टमास्टर का काम करता था, उसे सब समाचार बराबर देता रहता था। ससैन्य चिमना जी के कटक आने की सूचना पाकर उसने अपने विश्वस्त मित्र डेविड ऐंडर्सन को कटक भेजा कि वह चिमना जी को अंग्रेजों के पक्ष में फोड़ लेने की कोशिश करे जिससे वह संघ से विरत हो जाय और अंग्रेजों पर आक्रमण न करे।

ऐंडर्सन की बातचीत और लिखापढ़ी के कागज पत्र सरकारी कागजों में अपने ढंग के सर्वप्रथम नमूने हैं। ये गवर्नर जनरल के लिखे हुए हैं और इनसे देशी राज्यों के प्रति अंग्रेजी नीति का स्पष्टीकरण होता है। ऐंडर्सन २२ जनवरी सन् १७८१ को बालासोर पहुँचा, जहाँ पता चला कि चिमना जी अपनी अधिकांश सेना ढेकानाल के लिये भेज चुके हैं। तब वह कटक पहुँचा, वहाँ ज्ञात हुआ कि नागपुर

से मराठों के आने के मार्ग में संबलपुर का राजा उनके अधीन नहीं है। तब उसने मुधोजी के फड़नवीस मानोजी राम और राजाराम पंडित के प्रतिनिधि दीवान हृदयराम से अंग्रेजी सेना को उड़ीसा होकर दक्षिण जाने देने के विषय में बातचीत प्रारंभ की। उन दोनों ने आशंका प्रकट की कि पूना सरकार को इसपर आपत्ति हो सकती है। उन्होंने बताया कि नागपुर के राजा तो अंग्रेजों के मित्र हैं। ढेकानाल से उलझने में चिमना जी का बुद्धिमत्तापूर्ण उद्देश्य केवल अंग्रेजी सेना को उड़ीसा होकर आसानी से चले जाने देना ही है। अंतमें उन्होंने अंग्रेजी सेनाको उसके मार्ग में सामग्री द्वारा सहायता पहुँचाने का वचन दिया और तब ऐंडर्सन कलकत्ता लौट गया।

चिमनाजी ने अंग्रेजी सेना को बेखटके मराठा राज्यों में घुसने दिया और सब प्रकार से उसकी सहायता की। अतः संधिवार्ता को आगे बढ़ाने के लिये ऐंडर्सन पुनः उड़ीसा भेजा गया। उस समय २८ फरवरी १७८१ को वारेन हेस्टिंग्स ने ऐंडर्सन को जो हिदायतें भेजी थीं उनमें चिमनाजी की ढेकानाल पर चढ़ाई के संबंध की सब घटनाओं का सिंहावलोकन किया गया था और नागपुर के मराठों ने अब तक किस उद्देश्य से अंग्रेजों से मित्रतापूर्ण व्यवहार किया था, इसपर भी विचार किया गया था। उसने लिखा था कि "बंगाल की चौथ"[५] पर बरार सरकार के दावे का समर्थन प्राप्त करना ही उनका मुख्य लक्ष्य है। मुझे इस विषय में कोई संदेह नहीं कि इतनी रियायत करके हम तुरत उनका सहयोग प्राप्त कर सकते हैं और हमारे पक्ष में वे ऐसी घोषणा कर देंगे। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से ऐसा कभी नहीं कहा है, पर मैं जानता हूँ कि उनका लक्ष्य यही है।" हेस्टिंग्सने ऐंडर्सन को बिना किसी हाँ-ना के इस विषय को टालने तथा विविध उपायों से मराठों के मनो-भावों का पता लगाते रहने का आदेश दिया था। उसने लिखा था कि "यदि नवयुवक राजा (चिमनाजी) की कोई व्यक्तिगत इच्छा हो तो उसे पूरा करने में सहायता दी जा सकती है। पिता की मृत्यु के बाद उसे भाई की कृपा पर ही रहना पड़ेगा, अतः स्वयं मराठा राज्य का दावेदार बनने के अतिरिक्त उसके लिये अपनी स्वतंत्रता की रक्षा का कोई उपाय नहीं है।"

५—मराठों के आक्रमण से बचने के लिये आसपास के प्रदेश उन्हें अपने अपने राजस्व का चौथाई भाग दिया करते थे, जिसे चौथ कहा जाता था।

हेस्टिंग्स जानता था कि चिमनाजी के पृथक स्वार्थ की चर्चा से उसके कर्मचारी तक चौंक पड़ेंगे, इसलिए ऐंडर्सन को उसने भूलकर भी इसकी चर्चा न करने के लिए सावधान कर दिया था, पर यह भी लिखा था कि 'पृथक स्वार्थ' के संबंध में स्वयं चिमनाजी की क्या राय है, इसे जानने के लिये अवसर की ताक में रहना चाहिए और उससे लाभ उठाकर उसके हृदय में राज्यप्राप्ति की आशा उद्बुद्ध करनी चाहिए। परंतु यह षड्यंत्र बिलकुल व्यर्थ गया, क्यों कि सप्तदशवर्षीय चिमनाजी से मंत्रियों को छोड़कर सीधे बातचीत करना किसी प्रकार संभव नहीं था। अतः हेस्टिंग्स ने इस बात के लिये प्रयत्न किया कि नागपुर का राजा मराठों के संघ से अलग हो जाय। इस प्रसंग में उसने तीन लाख रुपए जो भोंसला को गुप्त रूप से दिए जा चुके थे उनके अतिरिक्त बारह लाख और देने का प्रस्ताव रखा। इसके बदले में मराठों को या तो ससैन्य नागपुर लौट जाना था या यह वचन देना था कि अंग्रेजों के विरुद्ध सेना का उपयोग नहीं किया जायगा। ऐंडर्सन को यह स्पष्ट कर देने के लिये कहा था कि बारह लाख रुपए मराठों को उनकी कृपा के मूल्य में नहीं, प्रत्युत अंग्रेजों के लिये उन्हें जो हानि उठानी पड़ी उसकी पूर्ति के लिये दिए जायँगे। उसे यह भी आदेश था कि चिमनाजी को अपने पक्ष में लाने का यह उपाय असफल होने पर उसके सहायक सेनाध्यक्षों को बड़ी बड़ी रकमें घूस देकर उन्हें अपने पक्ष में कर ले।

इसके बाद मराठों से ऐंडर्सन की बातचीत आरंभ हुई। जब भेंट देने की बात आई तो मराठों की ओर से बारह लाख की रकम पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया गया और युद्ध का खर्च दो करोड़ बतलाया गया। इसको लेकर दो दिन बातचीत चलती रही, पर किसी पक्ष से कोई रियायत नहीं की गई। मराठों से कहा गया कि जब समय अनुकूल हो तब वे या तो हैदरअली से युद्ध करने में या संपूर्ण मराठा राज्य को भोंसलों के लिये प्राप्त करने में अंग्रेजों की सहायता करें। इधर से उत्तर मिला--सामग्री की आवश्यकता है और बारह लाख तो कौर भर भी नहीं है। यह भी संकेत किया गया कि पर्याप्त रकम न मिलने पर सिपाही बेकाबू हो सकते हैं और समझौते से जो रकम नहीं मिलती उसे बंगाल की लूट से प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकते हैं। पुनः विचारविनिमय के उपरांत कहा गया कि राजा पचास लाख की आशा करता है। फिर तीस और पचीस लाख तक बात आई। तब पहली बार ऐंडर्सन ने बताया कि राजा के मंत्रियों को एक-डेढ़ लाख तक देने का भार मैं अपने

ऊपर लेता हूँ। उत्तर मिला कि इस प्रकार की बातचीत में ऐसी भेंटों के लिये कोई स्थान नहीं है। अंत में राजाराम पंडित ने हेस्टिंग्स से स्वयं मिलने की इच्छा प्रकट की जिसे एंडर्सन ने मान लिया। २६ मार्च १७८१ को नागपुर के राजदूत कलकत्ते में गवर्नर जनरल से मिले। राजदूतों ने पचास लाख की माँग की, फिर धीरे धीरे बारह लाख तक उतरे और पचीस लाख ऋण माँगा। अंत में, लगभग एक मास की बातचीत के बाद, ६ मई १७८१ को दोनों पक्षों में एक प्रारंभिक समझौता हुआ—अंग्रेज तेरह लाख रुपए चिमना जी को देंगे और दस लाख ऋण बंगाल से प्राप्त करने में सहायता करेंगे। चिमना जी की सेना तुरत उड़ीसा छोड़ देगी। दो हजार मराठा घुड़सवार अंग्रेजों के खर्च पर कर्नल पियर्स की सेना का साथ देंगे और अंग्रेज गढ़ मंडला की चढ़ाई में नागपुर की सहायता करेंगे।

इस प्रकार संधिस्थापन का प्रयत्न सफल हो गया। इस पर हेस्टिंग्स ने यह टिप्पणी की थी—'राजाराम पंडित के प्रस्तावों को स्वीकार कर हमने, अपने विरुद्ध स्थापित संघ में से एक बड़े शक्तिशाली राज्य को फोड़ लिया। अंग्रेजों और बरार को सरकार के बीच संधि होना कोई साधारण बात नहीं है। इस समाचार के श्रवण मात्र से लोग ऐसे प्रभावित हो जायँगे कि उसका बहुत बड़ा परिणाम होगा। भारत के देशी राज्यों की सम्मिलित शक्ति के आगे अब हम हल्के सिद्ध नहीं होंगे, बल्कि हमारा पलड़ा भारी हो जायगा। हमारे लिये यह बड़े महत्त्व की बात है। यूरप के लोग इसकी कल्पना नहीं कर सकते। वहाँ राष्ट्रों की नीति एशिया के विपरीत सिद्धान्तों पर निर्धारित होती है। वहाँ राष्ट्रों में युद्ध छिड़ने पर पड़ोसी राष्ट्र दुर्बल राष्ट्र की सहायता करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि शक्ति के समुचित संतुलन पर ही उनकी रक्षा अवलंबित है। परंतु एशिया में विजित जाति की लूट में भाग लेने की इच्छा तथा सबल राष्ट्रों के आतंक से नीति का निर्धारण होता है।··· और न हमें यह आशंका करनी चाहिए कि हमने उन्हें जो रकम दी है उसके लोभ से वे फिर कभी इन प्रांतों में आएँगे। वे अच्छी तरह जानते हैं कि इस चढ़ाई में उन्हें कितने कष्ट झेलने पड़े हैं, कितना खर्च करना पड़ा है और अपने उड़ीसा प्रांत पर उन्होंने कितनी मुसीबतें ढा दी हैं। यह सोचना व्यर्थ है कि लगभग एक करोड़ का व्यय वहन कर वे फिर कभी तीस हजार घुड़सवार सेना संघटित करेंगे और बारह लाख की रकम पाने के लोभ से पहाड़ों और जंगलों से भरा हजार मील लंबा रास्ता पार करेंगे।'

वारेन हेस्टिंग्ज की इस टिप्पणी से जहाँ उसकी राजनीतिक पटुता और दूरदर्शिता प्रकट होती है वहाँ यह भी विदित होता है कि छोटे से ढेकानाल राज्य को कितनी प्रबल शक्ति का अकेले सामना करना पड़ा था। इससे हम समरतरंग में वर्णित राजा त्रिलोचन के वीर चरित्र की महत्ता समझ सकते हैं। ऐंडर्सन के उस अप्रकाशित पत्र के अनुसार जिसे उसने कटक से वारेन हेस्टिंग्स को लिखा था, चिमनाजी के संपर्क में आने के लिये उसने कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा, पर उसके सारे प्रयत्न निष्फल हुए थे। कारण यह था कि राजा त्रिलोचन ने कड़ा पहरा बैठाकर सब मार्ग अवरुद्ध कर दिए थे जिससे चिमनाजी के पास वह कोई संदेश तक न भेज सका। इससे ज्ञात होता है कि बड़जेना ने जिन घटनाओं का वर्णन किया है वे कविकल्पना मात्र नहीं हैं। उन्होंने अपनी आँखोंदेखी घटनाओं का ही वर्णन और अपने समय के राजाओं के स्वभावादि का भी सच्चा ही चित्रण किया है। ढेकानाल के युद्ध की भयंकरता और राजा त्रिलोचन की वीरता के वर्णन में भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने बहुत अतिरंजना की है।

परंतु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि घटनाओं और व्यक्तियों के जो चित्र कवि ने उपस्थित किए हैं उन्हें उनकी पूरी भूमिका में प्रस्तुत नहीं किया है और उनमें रंग भरने में, अपने काव्य की प्रभावकता बढ़ाने के लिये अपनी रुचि और कल्पना से काम लिया है। फलस्वरूप जैसा पहले कहा जा चुका है, समरतरंग में हम ढेकानाल पर चिमना जी की चढ़ाई का कारण केवल ढेकानाल द्वारा कर न अदा किए जाने तथा युद्ध में ढेकानालनरेश के हाथों राजाराम पंडित की हार को ही देख पाते हैं, मानो अंग्रेजों के विरुद्ध हुई देशी राज्यों की चतुष्पदी संधि से उसका कोई संबंध नहीं था। साथ ही, कवि के स्वामी और चरित्रनायक राजा त्रिलोचन का चरित्र तो पूर्ण आदर्श रूप में चित्रित हुआ है, परंतु ढेकानाल के सरदारों तथा परपक्ष के व्यक्तियों—राजाराम पंडित, चिमना जी, भवानी कालो पंडित आदि — का रंग, उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की दृष्टि से, बहुत फीका हो गया है।

ज्योतिरीश्वर कृत 'वर्णरत्नाकर'

[श्री भुवनेश्वरप्रसाद गुरुमैता]

प्रथम परिचय — वर्णरत्नाकर मैथिली भाषा के अब तक प्राप्त ग्रंथों में सब से पुराना है। चौदहवीं शताब्दी ई० के प्रथम चरण में इसकी रचना हुई थी। यह ग्रंथ तालपत्रों पर लिखित है जो 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' के ग्रंथागार में सुरक्षित है। इसकी लिपि प्राचीन मैथिली है। उपलब्ध प्रतिलिपि अनेक स्थलों पर खंडित तथा प्रतिलिपिकार के दोषके कारण अशुद्धाक्षरों एवं भ्रामक अक्षरों से अत्यंत दूषित है। मूलतः इस ग्रंथ में ७७ पत्र (पल्लव) थे। आरंभ के नौ पल्लव तथा बीच बीच के पल्लव ११, १२, १४, १५, १७, १९ तथा २७ (कुल मिलाकर सत्रह पल्लव) उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि अवशिष्ट अंश अत्यंत सुंदर एवं सुवाच्य प्राचीन मिथिलाक्षरों में लिखे हैं, तथापि बीच बीच में उड़े हुए अक्षरों की संख्या भी कम नहीं है। संस्कृत के ग्रंथों में तो पूर्वापर अक्षर देखकर मध्यवर्ती अक्षरों का कई बार अनुमान कर सकते हैं, परंतु भाषा के ग्रंथ में यह संभव नहीं। इसपर भी ग्रंथ की भाषा कोई समीपवर्ती भाषा नहीं, प्रत्युत आज से ६ - ७ सौ वर्ष पूर्व की प्राचीन मैथिली है, जब अन्य प्रांतीय भाषाएँ अपनी शैशवावस्था में रही होंगी। ग्रंथ के प्रत्येक पत्र की लंबाई १५ इंच तथा चौड़ाई १$\frac{1}{2}$ इंच से २ इंच तक है। साधारणतया प्रत्येक पत्र पर पाँच पंक्तियाँ हैं लेकिन कुछ पत्रों पर चार और कुछ पर ६ पंक्तियाँ भी हैं। प्रथम नौ पल्लवों की अनुपलब्धि के कारण ग्रंथ दसवें पल्लव (१० क) से प्रारंभ होता है। सौभाग्य से अंतिम पृष्ठ (७७ ख) सुरक्षित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रंथ की प्रतिलिपि ३८८ ल० सं० अर्थात् १५०७ ई० में की गई थी।

प्रथम संधान—रॉयल एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल की इच्छा तथा बंगाल सरकार की अनुमति से महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने संस्कृत की हस्तलिपियों के अनुसंधान के हेतु नेपाल और काशी को (१८९५-१९०० ई० में) दो बार यात्रा की। उनके सहयोगी पं० राखालचंद्र काव्यतीर्थ तथा विनोदविहारी काव्यतीर्थ ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की यात्रा की। इसी सिलसिले में वर्णरत्नाकर

का यह तालपत्र पं० विनोदबिहारी काव्यतीर्थ ने मिथिला से प्राप्त किया। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'रिपोर्ट ऑन द सर्च आव संस्कृत मैनस्क्रप्ट्स'[१] में इसे उद्धृत किया है। यह तालपत्र रायल एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल के ग्रंथागार में सुरक्षित हैं। बंगीय साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित 'हजार बछरेर पुरान बांगलेय बौद्धगान ओ दूहा' का संपादन करते समय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने परवर्ती बौद्धकालीन महायानी सिद्धों का उद्धरण वर्णरत्नाकर से लेकर दिया[२]। बंगीय साहित्य परिषद् की पत्रिका (बंगला सन् १३३०) में भी इस प्रतिलिपि के उद्धरण उक्त लेखक ने प्रकाशित कराए और अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आव् बेंगाली लैंग्वेज'[3] में इस प्रतिलिपिका विस्तृत रूप में उल्लेख किया। उनकी इस प्रकार की रिपोर्ट ने उस समय के प्रसिद्ध विद्वानों को 'वर्णरत्नाकर' की ओर आकृष्ट किया। श्रीमनमोहन चक्रवर्ती ने 'मुगलों के पूर्व की मिथिला' शीर्षक निबंध में वर्णरत्नाकर तथा उसके लेखक श्री ज्योतिरीश्वर की महत्ताका निरूपण किया।[४]

मुद्रण तथा प्रकाशन — उधर डा० आशुतोष मुकर्जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं के अध्यापन का प्रबंध करते हुए मैथिली को भी एक स्वतंत्र भाषा का पद देकर सम्मानित किया। लेकिन उस समय मैथिली लिपि का मुद्रण प्रचलित न था अतएव उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्वावधान में मैथिली की असंख्य पुस्तकों का प्रकाशन कराया। वर्णरत्नाकर की प्रतिलिपि की खंडितावस्था को देखकर भी उन्होंने सन् १९११ ई० में इसकी नकल कराई। तब से यह ग्रंथ कलकत्ता विश्वविद्यालय में मैथिली की एम० ए० परीक्षा के निमित्त पाठ्यग्रंथ के रूप में स्वीकृत हो गया। श्री सुनीति बाबू, स्वर्गीय पं० खुदी झा तथा बाबू गंगापति सिंह भी इसके प्रकाशनार्थ तैयार थे परंतु पुस्तक की खंडितावस्था को देखकर उनके उत्साह को बार बार विचलित होना पड़ा और वे दूसरी प्रति के प्राप्त होने की

---

१. एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, १९०१ पृ० २३।

२. बौद्धगान ओ दूहा, कलकत्ता पृ० ३५–३६ बंगला सन् १३२३।

३. कलकत्ता १९२६ ई० भाग १, पृ० १०२–३

४. जनरल आव द रॉयल एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, १९१५ ई० पृ० ४०७–४३३।

की प्रतीक्षा करते रहे। पं० खुदी झा के देहांत के पश्चात् जब सुनीति बाबू को इसकी दूसरी प्रति मिलने की कोई संभावना न दिखाई दी तो उन्होंने उपलब्ध प्रति को ही प्रकाशित करना आवश्यक समझा। पं० बबुआ जी मिश्र के सहयोग से उन्होंने इसकी प्रेस कापी तैयार की तथा इसका संपादन दोनों ने ही बड़ी सावधानी से किया। मूल ग्रंथ के अनुसार ही ग्रंथ का विभाजन भी हुआ है। पृष्ठों के संकेत [१० क] वा [१० ख] की तरह विशेष प्रकार के चिह्नों के भीतर अंक देकर किए गए हैं जो मूल ग्रंथ के पल्लव का संकेत कराते हैं। पंक्ति का अंत एक पतली लंबी रेखा (।) से होता है। शब्दों के बीच के विंदु (.) अर्द्ध विराम के रूप में आए हैं जो मूल ग्रंथ के अनुसार ही रखे गये हैं। जिन अक्षरों के पढ़ने में कठिनाई हुई है वे वर्ग चित्रों के भीतर मुद्रित हैं। जो अक्षर पढ़े नहीं जा सके हैं वे '×' चिह्न द्वारा जता दिये गये हैं। जहाँ कहीं संपादकद्वय द्वारा संशोधन वा परिवर्द्धन हुआ है वहाँ विशेष कोष्ठक '( )' के बीच रखकर बतला दिया गया है।

ग्रंथ के विषय— संपूर्ण ग्रंथ सात कल्लोल में विभाजित है। इन सातों कल्लोलों के शीर्षक हैं —

१—नगरवर्णन, पृ० १३ क।
२—नायिकावर्णन, पृ० २१ ख।
३—आस्थानवर्णन, पृ० ३३ क।
४—ऋतुवर्णन, पृ० ४१ क।
५—प्रयानकवर्णन, पृ० ५५ क
६—भट्टादिवर्णन, पृ० ६० ख तथा
७—स्मशानवर्णन, पृ० ६६ ख

सातवें कल्लोल के पश्चात् आठवें कल्लोल के भी कुछ अंश हैं परंतु ग्रंथ की खंडितावस्था के कारण उसके लिए कोई शीर्षक निश्चित करना कठिन है। इन सातों कल्लोलों में प्रधान वर्णन के साथसाथ अनेक स्थलों पर अप्रधान वर्णन भी सन्निविष्ट हैं। सभी मिलाकर वास्तव में वर्णन के हेतु यह ग्रंथ 'रत्नाकर' बन जाता है।[५] इन सातों कल्लोलों में वर्णित विषय का विवेचन भी सारांश में कर लेना आवश्यक है।

प्रथम कल्लोल—प्रथम नौ पल्लव की अनुपलब्धि में प्रथम कल्लोल का अल्पांश ही मिला है। ग्रंथोद्यान में प्रवेश करते ही 'नगरवर्णन' के रूप में जिस प्रथम पुष्प का दर्शन होता है उसमें लतापादपों का सौंदर्य, नगर के तुमुल कोलाहल की

---

५ बबुआ जी मिश्र भूमिका पृ० ४।

गुंजार, विभिन्न जातियों रूपी अनेक प्रकार के रंग और 'जगा-योगी' के भक्तिभाव एक साथ ही मिल जाते हैं। सर्वप्रथम हमें निम्नवर्ग की सूची मिलती है—

"(पु) नु कैसन देपुः नागल् तोँगल तापसि तेँलि ताति
तिवर तुरिआ तुलुक तुरुकटारुअ... ... ...
... ...
कादव नागर प्रभृति मंद जातीय तेँ वास।[६]
इसके पश्चात् कुछ अपराधी वर्ग का वर्णन है—
(अवर कइसन देपु। चोर... ... ...
... ... अनुचिन्चीती तकर आश्रय देपु)

और तदनंतर भिक्षुक वर्ग (जगा योगी··· ··· गोरइया प्रभृति भिपारि तेँ भरल) नगर के तुमुल कोलाहल, मजिरा, कठताल, सींगा आदि बाजे की मधुर ध्वनि, लोरिक आदि प्रेमगीतों के मादक नाद और लेह, देह, तोरह, पुनुदेह की आवाज से युक्त नगर का यथार्थ चित्रण किया गया है। इसी प्रकार के ध्वन्यात्मक और वर्णनात्मक शब्दों का व्यवहार प्रायः कुछ परिवर्तित रूप में मिथिला में पाया जाता है।

द्वितीय कल्लोल -- यह नायकवर्णन से प्रारंभ होता है। नायक धनुर्विद्या में आठ प्रकार की उपसिद्धि, आठ प्रकार की महासिद्धि तथा आठ प्रकार की प्राकृत सिद्धि में निपुण होता है।[७] वह छत्तीस प्रकार के शस्त्रास्त्र और चौरासी प्रकार की राजनीति का ज्ञाता होता है। 'दया, दान, दाक्षिण्य' आदि शिष्ट धर्म से संयुक्त और तेरह प्रकार के गुण जो उपनायक में पाये जाने चाहिये' उनसे भी समन्वित होता है।[८] इसके बाद नायिकावर्णन में नायिका का नख-शिख-वर्णन, उसके अलंकार आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। नायिका के सौन्दर्य का वर्णन तुलनात्मक पद्धति पर किया गया है--

जनि कामदेव संसार जिति आएल. तकरि पताका। जनि एकर रूप देयकेँ इंद्र सहस्राक्ष भेलाह. ब्रह्मा जे चतुर्म्मुख कएहल. जनि एहि आलिंगए लागि एक कृष्ण चतुर्भुज भए गेलाह।

---

६. वर्ण रत्नाकर पृ० १। ७. वर्ण रत्नाकर पृष्ठ ३।
८. वर्ण रत्नाकर पृष्ठ ४।

इसके अनंतर सखी-वर्णन-प्रकरण में उसके नख-शिख सौंदर्य का भव्य वर्णन मिलता है—

'पूर्णिमाक चांद अमृत पूरल अइसन मुह।
श्वेत पंकज को दल भ्रमर वयिसल अइसन आँखि'। आदि

इसके बाद नायिका का हास्यवर्णन तथा नायिका के हास्य का नवयुवकों पर क्या प्रभाव पड़ता है यह वर्णन करते हुए द्वितीय कल्लोल की समाप्ति होती है।

तृतीय कल्लोल—इसका प्रारंभ होता है राज दरबार के वर्णन से। इसमें अनेक प्रकार के व्यापारी (वनिकपुत्र), राजोपजीवक लोक, राजविनोदक लोक, आस्थान मंडप, छतीस पदक, राजसन्निधानवर्ती लोक तथा राजपादोपजीवक लोक का वर्णन है। राज-दरबार-वर्णन के पश्चात् स्नानगृह (समरहर वर्णना) का वर्णन आता है। वहाँ स्नान करने की सामग्री, स्नान की विधि आदि का विधिवत् वर्णन है। स्नान के पश्चात् राजा पूजा के हेतु मंदिर (देओरहलि) में प्रवेश करता है जहाँ पूजा की विविध सामग्रियाँ रखी होती हैं। पूजन करके नायक के भोजन और पान खाने (तांबूल सेवन) का वर्णन है। भोजनोपरांत नायक के शयनगृह का सुंदर वर्णन मिलता है और प्रभात, मध्याह्न, रात्रि, अंधकार, चंद्रमा, मेघ आदि का भी लेखक विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है।

चतुर्थ कल्लोल—यह ऋतुवर्णन कहलाता है। कविपरम्परानुकूल ही षड्ऋतुओं का इसमें विस्तृत विवरण मिलता है। इसी कल्लोल में चौंसठ कलाओं के नाम भी गिनाए गए हैं। साथ ही षोडश महादान, रत्नवर्णन, बत्तीस प्रकार की उपमणियाँ, तीस प्रकार के वस्त्र, बीस प्रकार के देशी वस्त्र, तेरह प्रकार के निर्भूषणवस्त्र तथा चौदह प्रकार के नेत वस्त्रों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के टेंट्स (वस्त्रगृह) का वर्णन, 'ज्योतिविंदवर्णना,' 'धूतवर्णना,' 'वेश्यावर्णना,' 'कुट्टनी-वर्णना', आदि प्रकरण हैं। इनके बाद 'कामावस्थानवर्णना में' कामदेव के पाँचो बाण, आठ सात्विक दशाएँ, चार प्रकार के कोमलालिंगन, सात कठिनालिंगन, दस प्रकार के चुंबन, दस प्रकार के स्थानचुंबन, पाँच प्रकार के नखविन्यास, पाँच प्रकार के दशनविन्यास तथा तीन प्रकार के केशाकर्षण और कुछ आसनों का उल्लेख किया गया है।

पाँचवाँ कल्लोल — यह कल्लोल राजा की विजययात्रा (प्रयानक) से प्रारंभ होता है। राजा की विजययात्रा के सिलसिले में ही छतीस प्रकार के राज-पुत्र-कुल

विभिन्न प्रकार के घोड़े, हाथी के वर्णन हैं। प्रयानकवर्णन के बाद स्वभावतः "आखेटकवर्णना" के प्रसंग में शिकार का विशद वर्णन प्राप्त होता है। आठ प्रकार के हाथी, चौबीस प्रकार के घोड़े, आठ प्रकार के भैंसे, और दस नस्ल के कुत्तों के लालनपालन एवं शिक्षण संबंधी तत्कालीन व्यवस्था का सम्यक चित्रण हुआ है। शिकार के विपुल सैनिक समुदाय के प्रस्थान करने पर धूलिभरे मार्ग भी उनके अविरल पदाघातों से पंकिल हो जाते हैं (पदातिक धर्म एन्हिबाट कादव भइ गउ)। शिकार खेले जाने वाले वन की भीषणता, सघनता तथा रमणीयता का मनोरम चित्रण प्रस्तुत करते हुए उन भयानक जंगलों में निवास करनेवाली निर्भीक जातियों के नामों को गिनाते भी लेखक नहीं चूकता है। (कोच, किरात, कोल्ह भिल्ल षस, पुलिंद, सबर, छैरंग, मेज, गोंठ, बोट, नेट, पहलिया, पोध, दीतवार, सागर, बांतर प्रभृति अनेक जे म्लेच्छ जाति ताक निवास स्थान)[१] 'उपवन वर्णना' के प्रसंग में भाँतिभाँति के फलफूल कृत्रिम निर्झर, नाना प्रकार के पेड़पौधे तथा पक्षियों के नाम गिनाए गए हैं। पर्वत के वर्णन के सिलसिले में पर्वतीय लता, पादप, जीवजंतु, यक्ष, किन्नर, व्याध, विद्याधर आदि देव योनि के नाम भी लिए गए हैं। इसी कल्लोल में कमल, कोकनद, कल्हार, कुलवय, कुमुद आदि पुष्पों से शोभित 'शरतक चांद अइसन निर्मल सरोवर' का बड़ा ही भव्य वर्णन मिलता है। अंतमें ऋष्याश्रम वर्णन के साथ यह कल्लोल समाप्त होता है। यह ऋष्याश्रमवर्णन संस्कृत साहित्य की 'कादंबरी' के सदृश ही है।

छठवाँ कल्लोल — यह नाचगान तथा काव्य कला से संबद्ध है। सर्वप्रथम भाट की कीमती पोशाक, उसकी योग्यता आदि की संपूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इसके बाद मल्लयुद्ध। वर्णन का प्रसंग आता है इस सिलसिले में अनेक तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। तदनंतर एक विद्यावंत पेशेवर गायक का वर्णन करते हुए राग, श्रुति, सात प्रकार के गायनदोष, चौदह प्रकार के गीतदोष आदि भी वर्णित हैं। संगीत के वर्णन के पश्चात् नृत्य का प्रसंग आता है और इसे तीन वर्ग में विभाजित किया गया है; नृत्यवर्णना, पात्र-नृत्य-वर्णना तथा प्रेरणा-नृत्य-वर्णना। इन्हीं तीनों के अंदर सभी प्रकार की भावभंगिमाएँ आ जाती हैं। दस प्रकार के मुरजि,

---

१. वर्णरत्नाकर पृ० [५० क]

बारह प्रकार के मुरज वाद्य, ताल, रास, व्यभिचारी तथा सात्विक भाव का वर्णन है। इसके बाद वीणावर्णन प्रकरण में सत्ताइस प्रकार की वीणाओं का उल्लेख है।

सातवाँ कल्लोल—श्मशानवर्णन के नाम से उल्लिखित है। इस प्रकरण में आठ भैरव, आठ शक्ति, चौदह योगिनी, बारह वेताल तथा कापालिक आदि का वर्णन है। श्मशान वर्णन के साथ ही मरुस्थलवर्णन, समुद्रवर्णन, तीर्थवर्णन, नदीवर्णन, ऋषिवर्णन, पर्वतवर्णन आदि के प्रसंग आते हैं।

चौरासी नाथपंथी सिद्ध, दशावतार, शिव की अष्टमूर्ति, नवग्रह, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, दस विश्वदेव, पंद्रह मनु, बारह साध्य, उनचास पवन, बारह आदित्य, आठ दिग्गज, पतिव्रताएँ, रामायण के सात कांड, महाभारत के अठारह पर्व, दस उपपुराण, पंद्रह पुराण तथा अंत में आगमों के वर्णन के साथ यह कल्लोल समाप्त हो जाता है।

राज-पुत्र-कुल के वर्णन से आठवाँ कल्लोल प्रारम्भ होता है। इसमें छत्तीस प्रकार के शस्त्रास्त्रों के नाम के पश्चात् देशवर्णन का प्रसंग आता है। इसमें केवल तीन देशों के नाम गिनाकर बिना प्रसंग के वैद्यों का वर्णन बीच में ही हो जाता है। इसके बाद जहाजों का वर्णन (वहित्रवर्णना), विभिन्न देशों की स्त्रियों का वर्णन, विवाहवर्णन, द्वादश पुत्र-वर्णन, वणिक-पुत्र-वर्णन, वणिकद्रव्य, रत्न आदि का वर्णन मिलता है। इसके बाद चोरों का वर्णन (चौरवर्णना) दुर्गवर्णन, नौकावर्णन तथा वोहितवर्णन का प्रसंग आता है। अंत में भोजन के मनोरंजक वर्णन के साथ ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है। दुर्भाग्य से अष्टम कल्लोल का शीर्षक प्रतिलिपिकार द्वारा नहीं दिया गया है और न तो इस ग्रंथ की कोई दूसरी प्रति ही मिली है।

जायसी द्वारा घोड़ों का वर्णन*

[डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल]

जायसी के पद्मावत काव्य में घोड़ों के विषय में विशेष वर्णन मिलता है। उनकी व्याख्या नीचे लिखी जाती है।

दोहा क्रमांक ४६ [= २ । २२]

पुनि बाँधे रजबार तुरंगा। का बरनौं जस उन्हके रंगा। १।
लील समुंद चाल जग जाने। हाँसुल भँवर किआह बखाने। २।
हरे कुरंग महुअ बहुभाँती। गर्र कोकाह बोलाह सो पाँती। ३।
तीख तुखार चाँड औ बाँके। तरपहिं तबहिं तायन बिनु हाँके। ४।
मन तें अगुमन डोलहिं बागा। देत उसास गगन सिर लागा। ५।
पावहिं साँस समुंद पर धावहिं। बूड़ य पाँव पार होइ आवहिं। ६।
थिर न रहहि रिस लोह चबाहीं। भाँजहिं पूँछि सीस उपराहीं। ७।
अस तुखार सब देखे जनु मन के रथवाह।
नैन पलक पहुँचावहि जहँ पहुँचा कोउ चाह॥

(१) फिर राजद्वार पर घोड़े बाँधे हुए हैं। जैसे उनके रंग हैं उनका क्या बखान करूँ ? (२) नीले और समन्द की चाल को सारा संसार जानता है। कोई कुमैत हिनाई (हांसुल), मुश्की (भंवर) और कियाह कहे जाते हैं। (३) हरे रंग के, कुलंग (नीला कुमैत) और महुए के रंग के अनेक भाँति के हैं। गर्रा, कोकाह और बोलाह की पंक्तियाँ बंधी हैं। (४) तेज तुषार देश के घोड़े बड़े बली और टर्रे हैं। बिना चाबुक के हांके जाते हैं, तब भी तड़पते हैं। (५) उनकी बागें मन से आगे जाती हैं। उसासें छोड़ते हुए उनका सिर आकाश में लग जाता है। (६) तनिक इशारा पावें तो समुद्र पर दौड़ सकते हैं। पार होकर लौट आवें तो भी उनके पैर पानी में न भीगें। (७) एक जगह स्थिर नहीं रहते। क्रोध से मुँह का लोहा चबाते और पूँछ फटकारते एवं मस्तक उठाते हैं। (८) सब घोड़े ऐसे दिखाई पड़ते थे, मानों मन रूपी रथ के घोड़े हों। (९) जहाँ जो पहुँचना चाहता है निमिष मात्र में पहुँचा देते हैं।

---

* साहित्यसदन से प्रकाश्य 'पद्मावत भाष्य' से।

जायसी ने जो घोड़ों के रंग दिए हैं उनके अर्थ के लिए मैं सुधाकर जी की टिप्पणी का अनुगृहीत हूँ। घोड़ों के लिये और भी देखिये ४९६। ३–७।

(२) *लील*—नीले रंग का घोड़ा, आजकल भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। (नीलिक एवाश्वः, जयादित्य कृत अश्व वैद्यक)।

समुंद = समन्द, बादामी रंग का।

हांसुल = कुम्मैत हिनाई, जिसका बदन मेंहदी के रंग का और चारों पैर कुछ कालापन लिए हों।

भँवर = भौंरे के से रंग का, मुश्की।

कियाह = जिसका रंग पके ताड़ फल के जैसा हो। कलछौंह-लाल।

(३) *हरा* = सब्ज़ा, इस रंग का घोड़ा दुर्लभ है। वर्णरत्नाकर के बीस नामों की सूची हरिअ, महुअ से आरंभ होती है। जायसी ने किसी ऐसे ही वर्णनसंग्रह से अपनी सूची ली होगी।

कुरंग = कुलंग, लाखौरी, जिसका रंग लाख के जैसा हो, इसे 'नीला कुमैत' भी कहते हैं।

महुअ = महुए के ऐसा हल्के पीले रंग का।

गर्र = गर्रा जिसके रोएँ में सफेद और लाल रंग की खिचड़ी हो।

कोकाह = सफेद रंग का घोड़ा (श्वेत कोकाह इत्युक्तः, (जयादित्य कृत अश्व वैद्यक)।

बोलाह = बोल्लाह, जिसके गर्दन और पूँछ के बाल पीले या मूत्र के रंग के होते हैं। बोल्लाह शब्द का सबसे पहिला साहित्यिक प्रयोग हरिभद्र सूरि कृत 'समराइच कहा' ग्रन्थ में मिलता है। (आठवीं शती का पूर्वार्द्ध)। उस समय राष्ट्रकूट राजाओं के लिये अरबी सौदागर या ताजिक व्यापारी अरबी या ताजी घोड़े लाने लगे थे। धीरे धीरे अरबी नामों ने घोड़ों के देशी नामों को हटा दिया। सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में बाण ने रंगों के आधार पर घोड़ों के देशी नामों का ही उल्लेख किया है — जैसे शोण, श्याम, श्वेत, पिञ्जर हरित, तित्तिर, कल्माष आदि। (हर्ष चरित, उच्छ्वास २, निर्णयसागर संस्करण पृ० ६२)। धीरे धीरे घोड़ों के अरबी नाम बाजार में भर गए और देशी नाम हट गए, विशेषतः पश्चिमी भारत में, यहाँ तक कि बारहवीं शती में हेमचन्द्र ने अपने अभिधान चिन्तामणि नामक कोश में घोड़ों

के अरबी और देशी नाम और संस्कृत नाम साथ-साथ दिए हैं। किन्तु अरबी नामों की व्युत्पत्ति भी संस्कृत के धातु प्रत्ययों से की है, जैसे -- बोल्लाह अरबी के मूत्रवाची बोल्लाह शब्द से बना था, उसकी व्युत्पत्ति हेमचन्द्र ने 'व्योम्नि उल्लंघते' दी है: (अभिधान० ४। ३०३-९)। जायसी से लगभग दो शती पहले के वर्णरत्नाकर में भी कोंकाह, केयाह, वलि आह, शूराह आदि अरबी नाम घोड़ों की सूची में दिए हैं (वर्णरत्नाकर पृ० २९) जायसी से एक शती पहले के पृथ्वीचन्द्रचरित्र में घोड़ों के सत्ताईस नाम रंगों के आधार पर अरबी शब्दों के न होकर केवल देशवाची हैं।

(४) *तुखार* = तुषार देश के घोड़े। सं० तुषार, मध्येशिया में शकों के एक कबीले और उनके मूल निवासस्थान की संज्ञा थी। वहाँ से कुषाण और गुप्त काल में आनेवाले घोड़े तुषार कहलाते थे।

चांड = चण्ड, प्रचण्ड, बड़े बली।

बांक = बांके, टर्रे, मुंहजोर।

तायन = फा० ताजियाना = चाबुक।

(·) *सांस* = सं० शंस = आज्ञा, इशारा। इस शब्द का यही अर्थ यहाँ उपयुक्त बैठता है।

(७) *सीस* उपराहीं = सिर उठाते हैं।

(८) *रथवाह* = रथ के घोड़े।

दोहा क्रमांक ४९६ [= ४२। ८]

चली पंथ पैगह सुरितानी। तीख तुरग बाँक कैकानी।
पखरैं चली सो पाँतिन्ह पाँतीं। बरन बरन औ भाँतिन्ह भाँती॥
काले कुमैंइत लील सनेबी। खंग कुरंग बोरतुर केची॥
अबलक अबसर अगज सिराजी। चौधर चाल समुँद सबताजी॥
खुरमुज नोकिरा जरदा भले। औ अगरान बोलसिर चले॥
पँचकल्यान सँजाब बखाने। महि सायर सब चुनि-चुनि आने॥
मुसुकी औ हिरमिजी इराकी। तुरकी कहे भोथार बुलाकी॥
सिर औ पोंछि उठाए, चहुँदिसि साँस ओनाहिं।
रोस भरे जस बाउर, पवन तराज उड़ाहिं॥

अर्थ

(१) सुलतान की घुड़सवार सेना मार्ग में चली। उसमें तेज और बाँके केकाण देश के घोड़े थे। (२) वह लोहे की झूलें (कवच) पहने हुए कतार पर कतार बाँधकर अनेक रंगों के और अनेक भाँति के घोड़ों से युक्त होकर चले। (३) और भी, काले, कुमैत, लीले, सनेबी, खंग, कुरंग, बोर, दुर, केबी घोड़े उसमें चले। (४) उनमें अबलक अब्रस, अगज, रंग के शीराज़ी घोड़े थे। चौधर, चाल और समंद रंग के अनेक ताजी घोड़े उस सेना में थे। (५) खुरसुज़ से आनेवाले नुकरा और ज़रदा रंग के घोड़े भद्र जाति के थे। उनके साथ अगरान और बोल्सिर घोड़े भी चल रहे थे। (६) कुछ उनमें पंचकल्यान और संजाब थे जो पृथिवी के अनेक भागों और समुद्र पार के देशों से चुनचुन कर लाए गए थे। (७) मुरकी, हिरमिजी और इराक़ देश के घोड़े थे। भोथार या सलोतरी लोगों के अनुसार वहाँ तुर्की घोड़ों में बुलाकी जैसे श्रेष्ठ घोड़े थे। (८) वे सिर और पूँछ उठाए हुए चारों दिशाओं में साँस छोड़ रहे थे। (९) वे उन्मत्त की तरह क्रोध से भरे हुए पवन के समान उड़े जाते थे।

टिप्पणी

(१) *पैगह* — श्री माताप्रसाद जी का पाठ 'परिगह' है, किंतु गोपालचंद्रजी की प्रति (माताप्रसाद जी की सं० १, जिसका पाठ उन्होंने नहीं दिया) और मनेर की प्रति में 'पैगह' है। पैगह का फारसी रूप पयगह या पाएगाह था। इसका अर्थ है अस्तबल (स्टाइनगास, पर्शियन डिक्शनरी, पृ० २३५)। हाशिमी (१५२० ई०) ने पायगाह शब्द का अश्वशाला के अर्थ में प्रयोग जायसी से लगभग बीस वर्ष पहले किया है (फ़रसनामा, पृ० २४०; 'जिस पायगाह में ऐसा सफेद घोड़ा हो कि उसका दाहिना कान काला हो तो वह पायगाह बहुत भरापुरा हो जाता है,)। इस अर्थ में पैगह शब्द सुलतानी युग की सैनिक शब्दावली में प्रचलित था। अमीर खुसरू कृत क़िरानुस्सादैन (१२८९ ई०) नामक फारसी इतिहास में (जिसमें कैकुबाद और उसके पिता नासिरुद्दीन के मिलने का वर्णन है) कैकुबाद की अपरिमित अश्वसेना की बीच की टुकड़ी को पाएगाह-ए-खास अर्थात् शाही अश्वसेना की टुकड़ी कहा गया है। यही जायसी की 'सुलतानी पैगह' थी। खुसरू के कुछ वर्ष बाद विद्यापति ने 'पाइग्गह' शब्द का शाही घुड़साल के अर्थ में प्रयोग किया है (पाइग्गह पअ भरें भउँ पलानि अउँ तुरंग, अर्थात् जौनपुर में शाही पैगह के स्थान में भरे हुए अश्वों पर पलान रखकर उन्हें युद्ध के लिए सज्जित किया गया, कीर्तिलता, काशी सं०, पृ० ८४)। हिंदी शब्दों के इतिहास की दृष्टि से विद्यापति का

यह उल्लेख महत्वपूर्ण है। संस्कृत प्रतिग्रह > पडिग्गह > परिगह यह एक व्युत्पत्ति की परंपरा है। इसी शब्द का विकास फारसी में पाएगाह या पैगह के रूप में हो सकता है, जैसे संस्कृत प्रतिकृति से पडिकर > पइकर > पैकर (= तस्वीर) । भिन्न देशों के और भिन्न रंगों के घोड़ों का जो वर्णन जायसी ने दिया है, ठीक ऐसा ही साहित्यिक अभिप्राय हर्षचरित में आता है, जहाँ पैगह सुरितानी को 'भूपाल वल्लभ तुरंगों से आरचित मंदुरा' कहा है (हर्ष० उच्छ्वास २, पृ० ६४) । कैकानी—केकाण देश के घोड़े । भोज कृत युक्ति-कल्पतरु (अश्वपरीक्षा, श्लो० २६, पृ० १०२) । मानसोल्लास (४ । ६६६) नकुल कृत अश्व चिकित्सिक (२।२) बीसलदेव रासो (छं० २१, माताप्रसाद संस्करण) और शालिभद्र सूरिकृत बाहुबलिरास (१२ वीं शती) में केकाण देश के घोड़ों का उल्लेख है । चीनी यात्री य्यूआन चुआङ् को पता चला कि गोमल नदी के पश्चिम में कि – कियाङ्‌ना नामक प्रदेश पड़ता था । इस प्रदेश की भेड़ें और घोड़े मशहूर थे । ऊँ ये यूरे घोड़ों की एक नस्ल की तो विदेशों में बड़ी माँग थी । (वाटर्स, य्यूआन चुआङ् २।२६२) श्री ए० फूशे के अनुसार कि-कियाङ्‌ना की पहचान अरब इतिहासकारों के कैकानान, कैकान अथवा कीकान से की जा सकती है । ब्राहुइयों का यह प्राचीन प्रदेश जो अब भी घोड़ों की अच्छी नस्लों के लिए प्रसिद्ध है बोलन दर्रे के दक्खिन बलूचिस्तान के उत्तर पूर्व में मस्तुंग और कलात के इलाकों को घेरे हुए है । (फूशे, बाल्हीक से तक्षशिला तक का प्राचीन भारतीय मार्ग—ला वैय्य द लदं द बक्त्र आ तक्षिला नामक फ्रेंच पुस्तक भाग २, पृ० २१६–१७) । [इस पहचान के लिए मैं अपने मित्र डॉ० मोतीचंद्र जी का कृतज्ञ हूँ ।]

(२) पखरै — प्रा० धातु पक्खर = अश्व को कवच से सज्जित करना (पासद्द०, पृष्ठ ६१९) । यों भी साधारणतः मनुष्य, हाथी, घोड़ों के कवच के लिए पक्खर शब्द अपभ्रंश में प्रयुक्त होने लगा था — पिंधउ दिढ सण्णाह वाह उप्पर पक्खर दइ । बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ । (प्राकृत पैंगल) । विद्यापति में भी पक्खर शब्द कई बार आया है — विछि वाछि तेजि ताजि । पक्खरेहि साजि साजि; अर्थात् दोनों पार्श्वों में और सामने वक्षस्थल पर तेजी और ताजी अश्वों को पक्खरों से सजासजाकर (कीर्तिलता, पृ० ८४) । वर्तमान काल में हाथी के दोनों बगलों की लोहे की झूल को पाखर और सामने सिर की ओर के कवच को सिरी कहते हैं (कला और संस्कृति, पृ० २६१) ।

(३) काला, कुम्मैत, लील, जरदा, मुश्की — ये घोड़ों के मुख्य रंग हैं ।

कुम्मैत — वह घोड़ा जिसका रंग उन्नाब या ताज़ी खजूर की तरह स्याही मायल सुर्ख हो। घोड़े का यह रंग तमाम रंगों में अच्छा समझा जाता है। इस रंग का घोड़ा गर्मी, सर्दी और सफर की तकलीफ सह सकता है (फरहंग-ए-इस्तिहालात, भाग पाँचवाँ, पृष्ठ २६)। रंगीं ने लिखा है — जो आवे रंग में घोड़ों के तकरार। तो कह सबसे कुम्मैत अच्छा है यार (फरसनामा रंगीं, अ० ७)। कुम्मैत अरबी भाषा का शब्द है (स्टाइनगास, फारसी कोश, पृ० १०५१)। यह अरब, ईरान, भारत सब जगह चल गया था। औरंगजेब के समकालीन जबरदस्तखाँ ने कुम्मैत को सुर्ख का ही उपभेद माना है, जब उसका रंग स्याही मायल हो (फरसनामा, फिलौट सम्पादित, पृ० ६)। जयदत्त ने पके ताड़ के फल के रंग के घोड़े को कयाह कहा है (पक्वतालनिभो वाजी कयाह परिकीर्तितः)। वही हेमचन्द्र का कियाह है। जायसी ने ४६। ९ में किआह का उल्लेख किया है। वही कुम्मैत होना चाहिए। संस्कृत में इसे पाटल या शोण के अंतर्गत समझा जाता था — ताते अति ही लाल जो लखे खैर के अंग। आल पूँछ पग श्याम तो सो कुमैत के अंग (नकुल कृत शालिहोत्र पृ० ३७)।

काला = सियाह (हाशमी)। इसे ही संस्कृत में श्याम या कृष्ण वर्ण कहा जाता था। अनेक भेद होते हुए भी घोड़ों के मूल रंग चार ही थे — सफेद, स्याह, लाल, जर्द (हाशिमी पृ० १७)। इन्हें ही बाण ने श्वेत, श्याम, शोण, पिंजर लिखा था। मानसोल्लास के अनुसार भी शुद्ध वर्ण चार हैं, मिश्र वर्ण अनेक हैं (मानसो० पृ० २१२)।

लील — नीले रंग का (दे० ४६।२)। अं० डार्क या आयरन ग्रे (फिलौट)।

सनेबी – सनेबी, केबी — ये शब्द अज्ञात हैं। खेद है मैं इनपर प्रकाश न डाल सका। युक्तिकल्पतरु, मानसोल्लास, हेमचंद्रकृत अभिधान चिन्तामणि, नकुलकृत अश्वचिकित्सित, जयदत्तकृत अश्ववैद्यक, हाशिमीकृत फरसनामा (१५२० ई०) जबरदस्तखाँकृत फरसनामा (१७०० ई०), फरसनामा रंगीं (१८००) — इन ग्रंथों की अश्वसूचियों में ये शब्द नहीं मिले। फारसी में 'सनेब' का अर्थ है लोहा (स्टाइनगास, फारसी०, पृ० ७०४), अतएव काले, नीले के साथ सनेबी का अर्थ 'लोहे के रंग' का जान पड़ता है। यह भी सम्भव है कि सनेबी, केबी दोनों स्थान नामों से

बने हुए शब्द हों। कुवैत का संबंध केबी से हो तो वह भारत के साथ अरबी घोड़ों का सबसे बड़ा केन्द्र था।

खंग — हाशिमी (पृ० १४), जबरदस्तखाँ (पृ० ७), फरहंग इस्तहालात (पृ० १८), स्टाइनगास (पृ० ४११) सर्वत्र इसका उच्चारण खिंग है। वही यहाँ रक्खा है। माताप्रसाद जी में खंग है। फारसी लिपि में दोनों पढ़े जा सकते थे। दूध की रंगत के समान सफेद रंग का घोड़ा (फरहंग०)। फिलौट ने इस अर्थ का समर्थन करते हुए लिखा है कि यह शब्द ईरान और भारत में अब चालू नहीं रहा (फरसनामा हाशिमी, पृ० १४)। हेमचंद्र ने पीयूष या दूध के रंग के घोड़े को सेराह कहा है (संभवतः सं० क्षीराभ का फारसी रूप, अभिधान०, ४। ३०४)। ज्ञात होता है यही मूल श्वेत रंग का था। जसे अरब सौदागरों ने सेराह कहा और अंत में वही खिंग कहलाया। इसीका एक भेद नुक़रा था। बिन सेली तन पांडुरो होई इक सम अंग। दूजो रंग न देखिए तासों कहिए खिंग। (नकुल कृत शालिहोत्र पृ० ३७)।

कुरंग — दे० ४६। ३। स्टाइनगास ने इसे सुर्ख़ का ही भेद माना है। (फारसी कोश, पृ० १०२५; अंग्रेजी बे)। 'जिस घोड़े के रोएँ स्याह, सुर्ख़ व जर्द हों, और जिसकी चमड़ी सुर्ख़ हो, उसे कुरंग कहते हैं' (हाशिमी, फरसनामा, फिलौट संपादित, बिबलिओथिका इंडिका, पृ० २१)।

बोर — माताप्रसाद, मनेर और गोपालचंद्र, सर्वत्र बोर पाठ है। यह सुर्ख़ रंग का ही उपभेद था। स्टाइनगास ने इसे शहद के रंग का घोड़ा कहा है (फारसी कोश, पृ० २०६)। फिलौट के अनुसार बोर शब्द भारत में प्रचलित नहीं रहा, किंतु बलूची भाषा में जीवित है (हाशिमी फरसनामा, पृ० १०, टिप्पणी)। हेमचंद्र ने पाटल रंग के घोड़े को वोरुखान और जयदत्त ने वेरुहान कहा है। हाशिमी ने स्पष्ट लिखा है कि हिंदू लोग बोर को ही शोणवर्ण कहते थे (वही, पृ० १७)। फरहंग इस्तिहालात में बोर को सुरंग भी कहा है (पृ० २३)। शुक्लजी में और माताप्रसाद की केवल एक प्रति में बोज पाठ है। यह भी घोड़े का एक रंग था। स्टाइनगास ने इसे बादामी रंग कहा है (फारसी कोश पृ० २०६)। फिलौट ने लिखा है कि भारत में अब यह शब्द नहीं रहा। भूरे रंग के लिए यह तुर्की शब्द था। हिंदुस्तान के सलोतर इसे हल्के भूरे रंग के लिए प्रयुक्त करते हैं (हाशिमी कृत

फरसनामा, पृ० १३ टिप्पणी)। नहीं चाम लाली लखै नहिं लहुसन की छाँह। सो हय बोझ कहावही सूर सभा नरनाँह। (शालिहोत्र, पृ० ३६)।

दुर — यह नाम अलग नहीं मिलता। हाशिमी ने घोड़ों के श्वेत वर्ण के अन्तर्गत मोती (मुखारीद), दूध, चाँदी, बरफ, चन्द्रमा जैसी सफेदी का उल्लेख किया है। वही मोती या मुखारीद की सफेदी के रंग का घोड़ा दुर या गौहर ज्ञात होता है (अरबी दुर्र, फारसी दुर = मोती)। रंगीं ने अपने फरसनामे में लिखा है — समंद अच्छा है, गौहर उससे कम है। श्वेत रंग की चाम में झलकै जिनकी छाह। मोती ता रंग सों कहै तुकरा वाजी वाह (शालिहोत्र, पृ० ३६)।

केयी — अर्थ अज्ञात है। सम्भवतः चित्रविचित्र रंग के घोड़े के लिए यह शब्द था। केबू एक इसी प्रकार की चिड़िया होती है (स्टाइनगास, पृ० १०६८)।

अबलक — दो रंग का घोड़ा जो सुर्ख व सफेद रंग का, या सियाह व सफेद रंग का होता है। जिसके चारों पैर सफेद हों ऐसे घोड़े को भी अबलक कहते हैं (फरहंग०, पृ० ३)। अरबी अबलक़। अं० पाइबाल्ड। सं० चित्रित, चित्रल या कुबु र, जिसे हेमचन्द्र ने हलाह भी कहा है। सोमेश्वर में इसका लक्षण है — विशालैः पट्टकैः श्वेतैः स्थाने-स्थाने विराजितः। येन केनापि वर्णेन हलाह इति कथ्यते। (मानसोल्लास ४। ६५८) कुला या कुल्ला नामक घोड़े में भी जेब्रा के जैसी पट्टियाँ कही गई हैं (फिलौट, फरसनामा रंगीं, पृ० ९, पाद टिप्पणी)।

अबरस — माताप्रसाद जी ने अबसर पाठ माना है, किंतु मनेर, गोपालचंद्र और तृ० १ (जो माताप्रसाद जी की श्रेष्ठ प्रतियों में है) एवं चार अन्य प्रतियों में अबरस पाठ है जो यहाँ स्वीकार किया गया है। अरबी अबरश = वह कुम्मैत रंग का घोड़ा जिस पर खरबूजे की फाकों जैसी धारियाँ हों। बाज सवार सुर्ख और सफेद मिले रंगोंवाले घोड़े को भी अबरस कहते हैं। (फरहंग०, पृ० २; स्टाइनगास, पृ० ७, अं० डैपिल ग्रे, पाइबाल्ड, स्पाटेड रेड ऐंड व्हाइट)। फिलौट ने इस पर ठीक प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ईरान और हिंदुस्तान में इसे मगसी (सं० मक्षिका, फा० मगस) कहते हैं (स्टाइनगास, वही, पृ० १३०२; फिलौट, हाशिमी फरसनामा, पृ० १३)। जबर्दस्तखाँ के अनुसार असली रंग पर छोटे छोटे नुकते पड़े हों वह घोड़ा अबरश कहलाता है (फरसनामा, पृ० ८; फ्ली-बिटेन ग्रे)। बुंद प्रमान रोम छिटिकारो। मगसी कहै जा में गुण भारो (नकुलकृत शालिहोत्र अनु-

बाद, पृ० १९)। बाण ने जिसे कृत्तिका पिंजर कहा है वह यही है (हर्षचरित, उच्छ्वास २, पृ० ६२, तारक कदम्बकल्पानेकबिन्दुकल्माषित त्वचः कृत्तिका पिंजराः, शंकर)। सोमेश्वर में इसे तरंज कहा है (चित्रितः पार्श्वदेशे च श्वेतबिन्दु कदम्बकैः। यो वा को वा भवेद्वर्णस्तरंजः कथ्यते हयः, मानसोल्लास ४। ६९९)। किसी भी रंग का घोड़ा अबरस या बुंदकीदार हो सकता है। हाशिमी ने कुम्मैत अबरश, बोर अबरश, स्याह अबरश का उल्लेख किया है और इस जाति के घोड़ों को बहुत भाग्यशाली माना है (फरसनामा, पृ० ५३)। फारसी में एक शब्द आबसैर है जो मजे की चाल चलनेवाले घोड़े के लिए प्रयुक्त होता है (स्टाइनगास, वही, पृ० ८) सम्भव है अबसर पाठान्तर उसी के लिये हो।

अगज — सभी अच्छी प्रतियों में इसका पाठ यही है। यह शब्द किसी फरसनामे में नहीं मिला। किंतु अरबी में अगश उस घोड़े को कहते हैं जिसका सिर बिल्कुल सफेद रंग का हो। (स्टाइनगास, अरबी कोश, १८८४, पृ० ५९)। जायसी का अगज वही ज्ञात होता है। तुर्की में अकाश श्वेत रंग का वाचक है (वहीद मोरन तुर्की कोश, पृ० २४)।

सिराजी — संभवतः शीराजी = शीराज नगर का। अरबी, तुर्की, इराकी के अतिरिक्त शीराज के घोड़ों का नाम किसी अन्य सूची में नहीं मिला। जायसी का आशय यह ज्ञात होता है कि शीराजी घोड़े अबलक, अबरस और अगज रंगों के थे।

चौधर — सुरंग या लाल रंग के घोड़े की खाल में सफेदी का अंश और झलकने लगे तो उसे चौधर कहते हैं। लोक में यह शब्द अभीतक चालू है (मैं इस सूचना के लिए श्री अंबाप्रसाद सुमन का आभारी हूँ)। शुक्लजी की प्रति में चौघर छपा है, किंतु सब प्रामाणिक प्रतियों में चौधर पाठ है और लोक में प्रचलित वही शब्द का रूप है। जैसो सुरंग तेलिया होइ। तामें मिले सफेदी सोई॥ आल पूँछ उज्ज्वल जो होइ। चौधर ताहि कहै सब कोई (शालिहोत्र, पृ० ३९)।

चाल — ४६।२ में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका अर्थ ठीक नहीं हुआ। पाठक कृपया सुधार लें। सुर्खीमायल रंग के घोड़ों को चाल कहते हैं (स्टाइनगास, वही, पृ० ३८६) सुर्ख व सफेद मिले जुले बालोंवाला चकोर की रंगत का घोड़ा (फरहंग इस्तिहालात, भाग ५, पृ० १६)। कम इन सबसे है पंचकल्यान। नहीं है बाद उसके कुछ माल (रंगीं, फरसनामा, अध्याय ७)। यह तुर्की

शब्द था जो अब भारत में चालू नहीं रहा। (फिलौट, रंगी का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ९)।

समुँद—दे० ४६।२। समंद रंग का घोड़ा; वह घोड़ा जिसका रंग सोने के रंग के समान हो (फरहंग० पृ० २३)। यह प्रसिद्ध रंग है जिसे शुतुरी भी कहते हैं। जर्दा या पीले का ही उपभेद है। अं० डन। संस्कृत में इसे स्वर्णवर्ण कहते थे। पिंग, पिशंग, कपिल भी इसके प्राचीन नाम थे। सोमेश्वर ने कांचनाभ रंग के घोड़े को उस समय की शब्दावली में सेराह कहा है (मानसोल्लास ४।६८७, केशैस्तनुरुहैर्वालैः कांचनाभैस्तु रंगमः। सेराह इति विख्यातः वैश्य जाति समुद्भवः)।

ताजी– अरब देश के घोड़े। अरबों का प्रसिद्ध नाम ताजिक था। आठवीं शती में जब अरब सौदागर और यात्री पच्छिमी भारत में आने लगे तो यह नाम इस देश में चल गया। नौसारी के ७३८ ई० के लेख में चालुक्यराज पुलिकेशी द्वारा सिंध सौराष्ट्र पर आक्रमण करनेवाली ताजिक सेना की पराजय का उल्लेख है। गुर्जर राजा जयभट्ट तृतीय के ७३४ ई० के लेख में 'तज्जिक' आया है (एपिग्राफिया इंडिका, २०।१६३; एवं २३।१५१)। शाहनामे में (दशवीं शती) में 'ताजी अस्प' का कई बार उल्लेख है। भोजकृत युक्तिकल्पतरु (ग्यारहवीं शती) में ताजिक खुरषाण, तुषार, गोजिकाण और केकाण देश के घोड़ों के नाम हैं जिनमें ताजिक अश्वों को सर्वोत्तम माना गया है (युक्ति० पृ० १८२)। सोमेश्वर ने ताजी के स्थान में तेजी कहा है (मानसोल्लास, ४।६६९; ६१२; बीसलदेवरासो माताप्रसाद संस्करण छंद २१, दीन्हा तेजीय तुरीय केकाण)। विद्यापति ने तेजी ताजी को अलग माना है (कीर्तिलता, पृ० ८४, ८८)। वर्णरत्नाकर (पृ० ३१) और पृथ्वीचंद्र चरित्र में (पृ० १३१) भी तेजी ताजी दो प्रकार के अश्व हैं। मकरान की राजधानी तीज या तेज से आनेवाले बलूची घोड़े तेजी होने चाहिएँ (अलबिरूनी, इंडिया, अंग्रेजी अनुवाद, १।२०८)।

खुरमुज—ईरान की खाड़ी के उपरले सिरे पर खोरमूसा नामक समुद्री खाल (फारसी खोर = समुद्र का भीतर घुसा हुआ भाग। और उसी नाम का बंदरगाह है (गिब्स, इब्नबतूता, पृ० ३४८)। किसी समय वह घोड़ों के चालान का बड़ा बन्दरगाह था। वहाँ से आनेवाले घोड़ों का व्यापारिक नाम खुरमुजी या खुरमुज पड़ गया, जैसे हुरमुज बन्दरगाह से आने वालों का हुरमुजी।

नोकिरा—एकरंग सफेद घोड़ा, चांदी के रंग की तरह चमकदार। फारसी नुक़रई, अरबी नुकरः = चांदी। हिन्दी में भी सलोतर इस शब्द का प्रयोग करते हैं। गावों में इसे नोकड़ा कहते हैं। इसे ही फारसी में नुकरए खिंग (चांदी की भाँति श्वेत) कहते हैं। संस्कृत में यह श्वेतवर्ण या कर्क कहा जाता था। जायसी का कोकाह भी यही था (४६।३; जयदत्त, अश्ववैधक, ३।१००)।

जरदा—स्वर्ण के से पीले रंग का घोड़ा। श्रं० डन। इसमें पीले रंग की सभी रंगतों के घोड़े आ जाते हैं। पीत, हरिय, समंद, महुआ (४६।३) इसी के अन्तर्गत हैं। अरबी में इसे ही असफ़र कहते हैं (= पीले रंग का घोड़ा)। ज़र्दा को ही संस्कृत में स्वर्ण कहते थे। जिससे इस रंग का घोड़ा सुबरन भी कहा जाता है।

अगरान—जबरदस्तखाँ के अनुसार उस छोटे सफेद निशान को जो दिरहम (या अठन्नी) से छोटा हो कुरहः और घोड़े को अक़रह कहते हैं। यदि माथे पर सफेद निशान इससे बड़ा हो तो उसे ग़ुर्रः और घोड़े को अग़र्रः कहते हैं (फरस-नामा, पृ० ९, स्टाइनगास, पृ० ११)। अग़र्र से ही सम्भवतः बहुवचन रूप अगरान था। लोक में पहले को सितारापेशानी और दूसरे को टिप्पल कहते हैं। जिसके माथे पर सफेदी का निशान हाथ के अंगूठे की चौड़ाई से बड़ा हो, अर्थात् उस पर यदि अंगूठा रख दिया जाय तो निशान बाहर निकला रहे उसे टिप्पल कहते थे। सूचियों में अगरान शब्द कहीं नहीं मिला केवल नकुलकृत शालिहोत्र के हिन्दी अनुवाद में अगरान का लक्षण दिया है। चौधर रंग के घोड़े में यदि सफेदी विशेष न झलकती हो तो उसे अगरान कहते हैं। (जो पै झलकत श्वेत न होय। ताहि अगरान कहै सब कोइ। शालिहोत्र, हिंदी०, वेंकटेश्वर प्रेस, संवत् १९६३, पृ० ३९)।

बोलसिर—यह नाम भी ग्रंथों में नहीं है। सम्भव है इस नाम का संबंध बोलाह से हो। किन्तु ४६।३ में पृ० ४७ पर मैंने उसकी जो व्युत्पत्ति लिखी है वह चिन्त्य है। फारस की खाड़ी में उफ़ातु नदी के मुहाने पर स्थित उबुल्लह से आनेवाले घोड़ों का बोलाह नाम पड़ा। अपने मित्र डॉ० मोतीचंद्र जी का यह मत मुझे सत्य जान पड़ता है। भारत और उबुल्ला के बीच इतना व्यापार चलता था कि अरब उसे भारत का ही एक टुकड़ा समझते थे। (सुलेमान नदवी, अरब और भारत के संबंध, पृ० ४२-४३, हुरमुज, खुरमुज, बोलाह जायसी की सूची के ये तीन नाम फारस

की खाड़ी में स्थित बन्दरगाहों के नाम पर घोड़ों के व्यापारिक जगत् में चालू हुए और वहाँ से साहित्य में फैल गये। इसी प्रकार वहीं के बन्दर सेराफ से आने वाले घोड़े सेराह नाम से प्रसिद्ध हुए जिनका उल्लेख जायसी में तो नहीं किन्तु हेमचंद्र (अभिधान० ४।३०४) आदि में है। (देखिए ऊपर समुद्र की टिप्पणी बारहवीं सदी में कैस ने सरीफ का स्थान ले लिया और करीब १३०० के वहाँ का व्यापार हुरमुज के हाथ में आ गया (गिब्स, इब्नबतूता, पृ० ३५३ टि० २८)

पंचकल्यान—प्रसिद्ध नाम, वह घोड़ा जिसके चारों पैर घुटनों तक और मुख पर सफेदी हो, शरीर का रंग चाहे जो हो — येन केनापि वर्णेन मुखे पादेषु पाण्डरः। पंच कल्याणनामायं भाषितः सोमभूभुजा (मानसोल्लास, ४।६९५)।

संजाव—जंगली चूहे और लोमड़ी की रंगत से मिलता हुआ घोड़ा (फरहंग० पृ० २३; स्टाइनगास, पृ० ७००)। यही संस्कृत का उंदीर या (उंदुरेण समच्छायः सासिरुंदीर उच्यते, मानसोल्लास, ४।६९२)। भारत में इसका उच्चारण संजाब है। इसकी चमड़ी पर सफेद और काले निशान गुप्त रहते हैं, पानी से भिगोने पर जान पड़ते हैं (फिलौट)। रंगों के अनुसार संजाब घोड़ा पंजाब और हिंदुस्तान में बुरा नहीं माना जाता था, किंतु फारस में इसे अच्छा न समझते थे (फरसनामा, अनुवाद, पृ० ९)। लाल पूँछ तनु श्वेत रोम सब देखिये। भिचभिच लहसुन के सी छाया पेखिये॥ वाम मध्य शोणित की लाली धावही। गनत नाम बुधि जन संजाब कहावही (नकुल कृत शालिहोत्र, पृ० ३५)।

मुसुकी — स्याह घोड़ा। हाशिमी के अनुसार जिसे संस्कृत ग्रंथों में कृष्णवर्ण या श्याम कहा जाता था उसे ही ईरान में मुश्की कहते थे।

हिरमिजी—हुरमुज से आनेवाले घोड़े। फारस की खाड़ी में बंदर अब्बास के पास हुरमुज नाम का छोटा द्वीप है और मीनाब नदी के मुहाने पर एक बंदरगाह भी है। किसी समय यह स्थान व्यापार का बड़ा केंद्र था। याकूती के अनुसार भारतवर्ष का सारा व्यापार सिमिट कर हुरमुज के व्यापारियों के हाथ में आ गया था। घोड़ों के हुरमुजी सौदागर पश्चिमी भारत में राष्ट्रकूट राजाओं के समय से आने लगे थे। मारको पोलो ने (जो १२७२ और १२९३ में दो बार यहाँ आया) लिखा है कि यह स्थान घोड़ों के व्यापार का मुख्य केंद्र था। लगभग चौदहवीं शती में हुरमुज का बंदरगाह ईरान की भूमि से उठकर ही उसी नाम के द्वीप में आ गया

और सोलहवीं शती तक जब जायसी ने उसका उल्लेख किया यह फारस की खाड़ी का सबसे प्रधान व्यापारस्थान हो गया। भारत से जानेवाला सारा माल फारस की खाड़ी में हुरमुजी सौदागर संभालते थे।

इराकी—इराक देश के घोड़े (४९९।४)। आईन अकबरी में कहा है कि अकबर की घुड़साल में तुर्की, इराकी और ताजी घोड़े बराबर आते रहते थे।

तुरकी—तुर्की या रूम देश से आनेवाले घोड़े।

बुलाकी--४६।३ में बलाह का एक अच्छा पाठांतर बोलाक भी है। पर अर्थ अनिश्चित है। फारसी बलक़ का अर्थ काला सफेद मिश्रित घोड़ा है (स्टाइनगास, फारसी कोश, पृ० १९८)। संभव है वही बोलाक हो। इस संबंध में तुर्की बाकला-किरि (वहीद मोरान कृत तुर्की-अंग्रेजी कोश, इस्तांबोल, १९४५; अं० डैपिल ग्रे) शब्द भी ध्यान खींचता है।

भोथार--यह शब्द अरबी बैतार का हिंदी रूप ज्ञात होता है, जिसका अर्थ था अश्ववैद्य, घोड़ों का विशेषज्ञ, जिसे हिंदी उर्दू में सलोतरी कहा जाता है (स्टाइनगास, अरबीकोश, पृ० १५५; फारसीकोश, पृ० २२२, वहीद मोरान, तुर्की कोश, पृ० १२०। अरबी के 'तोय' अक्षर का हिंदी उच्चारण में 'थ' हो जाना संभव है)। प्रो० हसन अस्करी द्वारा बिहार शरीफ में प्राप्त पद्मावत की नई प्रति में भुतार पाठ है।

(६) *तरास*—वेग से। सं०, प्रा० तरसा = शीघ्र, वेग से।

पाएगाह शब्द के अर्थ और रंगों के मूल फरसनामे से उद्धरण भेजने के लिये मैं अपने मित्र प्रो० हसन अस्करी (पटना कालिज) का आभारी हूँ।

रसानुभूति पर अभिनवगुप्त तथा आचार्य शुक्ल *

[डॉ० भोलाशंकर व्यास, एम० ए०, पी-एच०, डी०]

काव्य की सौंदर्यानुभूति के स्वरूप तथा प्रक्रिया का विश्लेषण काव्य की प्रवृत्ति में सहायक सिद्ध होता है। पाश्चात्य दर्शन में प्लातो से लेकर आजतक कलाकृति के सौंदर्य, तथा उसकी अनुभूति पर विभिन्न मतसरणियाँ पाई जाती हैं। भारत में भी आचार्य भरत से लेकर आचार्य शुक्ल तक रसमीमांसा के अंतर्गत काव्य के लावण्य का मूल्यांकन होता रहा है। सौंदर्य किसे कहते हैं, वह कहाँ रहता है—विषय में या विषयी के मानस में, इन प्रश्नों को यहाँ न लेकर हम केवल इतना ही संकेत कर देना चाहेंगे कि अभिनवगुप्त सौंदर्य या लावण्य को विषय में मानते तो हैं, पर विषय के तत्तदंग में न मानकर उसे समस्त विषय के अन्तस् में तरलित 'मोती की आभा' मानते हैं। साथ ही आकृतिवादियों की भाँति वे विषय को ही सौंदर्य का कारण नहीं मानते। यदि कोरा विषय ही सौंदर्य का कारण हो, तथा सौंदर्य चर्मचक्षुओं से देखने की चीज हो, तो सौंदर्यानुभूति सभी को होने की आपत्ति उपस्थित होती है। हमारे सामने कोई कलाकृति है - रवि वर्मा का चित्र हो या राजपूत क़लम की तस्वीर ! मुझे वह सुन्दर लगती है, इसलिए नहीं कि मैं उसके रंग की चटकमटक, रेखाओं की भंगिमा, आकाश में घिरे बादल और नायिका के अभिसरण की सूचना देते नूपुरों से अभिभूत हो गया हूँ। नहीं, चित्र के द्वारा कलाकार ने जिन भावों का उद्बोधन कराना चाहा है, जिस भावोद्बोधन के लिए उसने अभिसारिका के उस रूप को कल्पना की तूलिका से फलक पर उतार दिया है, उसी भाव संपत्ति से समन्वित हो जाता हूँ। हाँ यह दूसरी बात है कि रंग, रेखा, अभिसारिका की सशंक किन्तु सोल्लास दृष्टि, बादल की गरज और बिजली की चमक को सुन-देखकर सहमी हुई गति, इनका भी मैं चाक्षुष तथा मान-

---

* प्रस्तुत निबन्ध नागरीप्रचारिणी सभा की साहित्यगोष्ठी में शुक्ल-जयन्ती के अवसर पढ़ा गया था। (निबंध का मुख्य उद्देश्य यही सिद्ध करना है कि शुक्लजी तथा अभिनवगुप्त का मूल दृष्टिकोण रस के संबंध में भिन्न है। दोनों को एक ही मानने की जो भ्रान्त धारणा पाई जाती है, यहाँ उसका निराकरण करने की चेष्टा की गई है।)

सिक प्रत्यक्ष करता हूँ जो मेरी भावानुभूति के साधन हैं। भावानुभूति का साक्षात् संबंध न इंद्रियों से है, न मन से ही, वह तो आत्मा के स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का विषय है। इस प्रकार अभिनव सौंदर्य के विषय में "विषयि-विषय-संबंध" (सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट-रिलेशन) मानते जान पड़ते हैं। इसीलिए वे स्पष्ट कहते हैं कि प्रत्येक श्रोता या दर्शक को काव्यनाटक के पर्यनुशीलन से रसानुभूति नहीं होती। इसके लिए एक शर्त है, वह यह कि अनुशीलनकर्ता सहृदय हो, रसिक हो, प्रतिभासम्पन्न हो। संभव है किसी को ऊपर वाला राजपूत कलम का चित्र भावमग्न न कर पाए, तो इसमें चित्र का क्या दोष ? हाँ, मैं उन महाशय की उतनी खिल्ली न उड़ाऊँगा, जितनी अभिनवगुप्त के साथियों ने वैयाकरणों तथा जरन्मीमांसकों की नीरसता की उड़ाई है। इस सारे विवेचन से हम दो विन्दुओं पर पहुँचते हैं, जो हमें अभिनवगुप्त के रस-सिद्धांत को समझने में सहायता देंगे। अभिनवगुप्त काव्य का छिपा सौंदर्य या लावण्य 'भाव'—स्थायी भाव में मानते जान पड़ते हैं; साथ ही उसे ही सौंदर्यानुभूति की अंतःप्रक्रिया का प्रमुख विषय मानते हैं; दूसरे इस विषय की प्रभा उसी प्रमाता को हो सकती है, जो सहृदय हो।

आचार्यद्वय के रससिद्धांत को लेने के पूर्व जरा काव्य के प्रयोजन की ओर नजर डालें। काव्य का प्रयोजन क्या है ? बेनेदेत्तो क्रोचे ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'एस्थेतिका' के एकादश परिच्छेद में काव्य के प्रयोजन के संबंध में प्रचलित सुखवादी (हेडोनिस्टिक) एवं नीतिवादी (पेडेगॉगिक) निकायों का खंडन किया है। यहाँ यह कह दिया जाय कि क्रोचे काव्य का प्रतिपाद्य स्वतः प्रकाश्य ज्ञान या प्रातिभज्ञान (इंट्यूशन) मानता है, जो आत्मा का विषय है। पंडितराज जगन्नाथ भी जब रमणीयता का विवेचन करते समय उसे लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान की गोचरता मानते हैं; तथा लोकोत्तरत्व से उनका अर्थ अनुभवसाक्षिक जाति विशेष से है, तो वे आत्म-प्रकाश्य ज्ञान का ही संकेत करते जान पड़ते हैं।[1]

क्रोचे ने पूर्व-पक्ष के रूप में निम्न सिद्धांतसरणियाँ उपस्थित की हैं:—

(१) कलाकृति का प्रयोजन उच्चतम ज्ञानेंद्रियों, चक्षुरिंद्रिय तथा श्रोत्रेंद्रिय की तृप्ति करना है। इस मत के सुखवादी आलोचक कलाकृति का कोई अन्य उद्देश्य नहीं मानते।

---

१. रसगंगाधर पृ० २-३।

(२) दूसरा सुखवादी निकाय काव्यादि को 'क्रीडनीय' मानता है। (प्ले-थियरी)।

(३) तीसरे सुखवादी कलाकृति के सौंदर्यानुभव को कुछ नहीं केवल ऐंद्रिक प्रतिक्रिया (सेक्सुअल रिएक्शन) मानते हैं। ये तीनों मत शुद्ध सुखवादी हैं।

(४) नीतिवादी संप्रदाय काव्य का उद्देश्य नीति या सदाचार की प्रतिष्ठापना मानता है। काव्यास्वाद को यह गौण ठहराता है।[१]

अभिनव के मत से काव्य की सौंदर्यानुभूति 'सुख' नहीं है। तभी तो ध्वनिवादी इस रसानुभव के लिए 'आनंद' शब्द का प्रयोग करता है, जो सुख तथा आनंद दोनों से परे है। एकावलीकार विद्यानाथ के शब्दों में ध्वनिवादी, कोरे सुखवादियों को यही उत्तर देगा—"चार्वाकैरिव कैश्चिदस्य न पुनः सत्ताऽपि संभाव्यते।" निरतिशयानंदास्वादभूत रस को ब्रह्मानंद का सहोदर ही क्यों, स्वयं ब्रह्मानंद ही समझने वाला, उसे नीतिशास्त्र का अंग मानने के लिए तैयार नहीं। तभी तो काव्य को वेद तथा पुराण से भी बड़ा माना गया है। यह दूसरी बात है कि अवांतर रूप में काव्य से कुछ न कुछ नीति या उपदेश मिलता ही है, पर काव्य में वही प्रधान नहीं है। काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य रस है, आस्वाद है।

यही वह जगह है, जहाँ अभिनवगुप्त या शुक्लजी में कुछ भेद दिखाई देगा निजी शब्दावली का प्रयोग करने की इजाजत मिले तो मैं अभिनवगुप्त को "इंद्यूशनिस्ट" कहूँगा, शुक्ल जी को 'रसवादी-कम-पेडेगॉग" (रस-नीति-वादी)। शुक्ल जी कोरे नीतिवादी बनने से बच गये हैं। वे भारतीय साहित्यशास्त्र की रसपरंपरा का हाथ पकड़ कर आलोचनाक्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। अतः पाश्चात्य नीतिवादियों की भाँति शुक्ल जी रसानभूति की अवहेलना करते दिखाई नहीं देते। शुक्ल जी की यह नीतिवादी-रसवादी मनोवृत्ति कहाँ तक उनके सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों ढंग के आलोचन में प्रतिफलित हुई है, इसका संकेत यथावसर किया जायगा।

शुक्ल जी अपने रससंबंधी मत के लिए आचार्य अभिनवगुप्त के पूरी तरह ऋणी हैं। यही नहीं, रससंबंधी मत को शुक्ल जी ने आधुनिक मनोविज्ञान की आधारशिला पर रखकर देखने का भी सफल प्रयास किया है। नीतिशास्त्र तथा

---

१. क्रोचे – एस्थेटिक्स, पृ० १३४ से १४१ तक।

मनःशास्त्र के आधार पर रसशास्त्र का विवेचन आचार्य शुक्ल की वह देन है, जिसके महत्त्व का निषेध करना ठीक नहीं। इस नवीन पर्यवेक्षण के कारण आचार्य शुक्ल तथा अभिनवगुप्त के मत भिन्नभिन्न हो जाते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि शुक्ल जी का मत विदेशी है। शुक्ल जी का मत निःसंदेह शुद्ध भारतीय है। अभिनवगुप्त का मत दार्शनिक रसवाद है, शुक्ल जी का नीतिवादी रसवाद। यहाँ यह कह दिया जाय कि शुक्ल जी के रससंबंधी मत का पाश्चात्य मनःशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के आधार पर पर्यवेक्षण न्याय्य हो सकता है, किंतु 'वेस्टर्न साइकोलोजी' और 'एथिक्स' के आधार पर अभिनवगुप्त के मत की मीमांसा करना उसके साथ न्याय करना नहीं। उसके लिए तो शुद्ध भारतीय शैव दर्शन ही पथिवाहक बन सकेगा। अभिनव के 'संवित्' शब्द को 'माइंड' कहना सबसे बड़ी भूल है।

शुक्लजी को रसमीमांसा के संबंध में कुछ नई बातें जोड़नी पड़ी हैं। शुक्ल जी की इन सब बातों पर ही हमें विचार करना है और यह भी बताना है कि संभवतः शुद्ध ध्वनिवादी परंपरा का अभिमानी शुक्लजी के इन निष्कर्षों से सहमत न हो। शुक्ल जी के वे विंदु निम्न हैं:—

(१) शुक्ल जी का वाच्यार्थ में काव्यत्व तथा सौंदर्य मानना;

(२) उनके मत से आनंद की दो अवस्थाएँ होना—साधनावस्था तथा सिद्धावस्था;

(३) उनके मत से रस की उत्तम तथा मध्यम दो कोटियों का होना;

(४) साधारणीकरण में केवल आलंबन विभाव का ही 'सामान्यत्व' मानना;

(५) रस को आत्मा की मुक्तदशा न मानकर हृदय की मुक्तदशा मानना।

इन कल्पनाओं में अंतिम विंदु विशेष महत्त्वपूर्ण है, जहाँ शुक्ल जी ने इसको मनोमय कोष व हृदय की वस्तु माना है तथा उसकी अलौकिकता का निषेध किया है।

ध्वनिवादियों की अभिनव कल्पना, व्यंजनावृत्ति के मानने न मानने के विषय में शुक्ल जी का अपना मत कहीं नहीं मिलता। 'रसमीमांसा' के परिशिष्ट की अँगरेजी टिप्पणी में व्यंजनावृत्ति पर जो मत हैं, वे सब साहित्यदर्पण से लिये गये शुक्ल जी के 'नोट' हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें व्यंजनावृत्ति

स्वीकृत है। वे व्यंजनाशक्ति शब्द का प्रयोग भी कई स्थलों पर करते देखे जाते हैं। पर शुक्ल जी काव्यचारुता का अस्तित्व व्यंग्यार्थ में नहीं मानते, केवल वाच्यार्थ में ही मानते हैं। यहाँ वे अभिनवगुप्त के मत से विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। अभिनवगुप्त (ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन की ही भाँति) काव्य का सौंदर्य स्पष्ट रूप से व्यंग्यार्थ में मानते हैं। ध्वनि स्वयं व्यंग्यरूप है। काव्य के चारुत्वाचारुत्व का निष्पादक, उसके तारतम्य का विभाजक व्यंग्यार्थ ही है। व्यंग्यार्थसौंदर्य की उत्कृष्टता-निकृष्टता के आधार पर मम्मट ने, ध्वनिकार के ही संकेत पर, काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद माने हैं।[1] जब ध्वनिवादी आचार्य ध्वनिकाव्य का लक्षण देते हुए कहता है कि "व्यंग्यार्थ के वाच्यार्थ से उत्कृष्ट होने पर उत्तम काव्य होता है, उसीको ध्वनि कहते हैं" (इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः); तो वह चारुत्व की निबंधना व्यंग्यार्थ में मानता है।

शुक्ल जी का मत भिन्न है। 'इंदौरवाले भाषण' (१९२४ ई०) में शुक्ल जी के सामने यही प्रश्न उपस्थित होता है। "काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शुक्ल जी कहते हैं :—

'आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला जब आप ही मिट जायगी तब प्रिय लक्ष्य को वन से लाएगी क्या, पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि के अग्राह्य वाच्यार्थ में है। इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यंत औत्सुक्य है, इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।" (पृ० १४)

हमें शुक्ल जी के इस मतपर कुछ कहना है। ध्वनिवादी जहाँ व्यंग्यार्थ में काव्य का सौंदर्य मानता है, वहाँ यह कभी नहीं कहता कि वाच्यार्थ सदा असुंदर होता है। वाच्यार्थ में भी अपना सौंदर्य है। स्वयं ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में बताया है कि वाच्यार्थ का भी अपना सौंदर्य होता है। आनंदवर्धन ने "हंसानां निनदेषु यैः कवलितैः" आदि पद्य को उदाहरण रूप में

१. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

उपन्यस्त कर अपने विचार प्रकट किए हैं।[४] वाच्यार्थ का सौंदर्य कभी कभी किसी उदाहरण विशेष में अतिशय रमणीय होकर व्यंग्यार्थ की रमणीयता को दबा भी सकता है, पर वहाँ ध्वनिवादी, काव्य का वास्तविक लावण्य, जो व्यंग्यार्थ की ही उत्कृष्टता में होता है, नहीं मानेगा। शुक्ल जी के " वाच्यार्थ ही काव्य होता है " वाक्य में 'ही' की अवधारणोपपत्ति ठीक नहीं। फिर भी रमणीयतावाले प्रश्न का कोई उत्तर इस वाक्य से नहीं मिलता। शुक्ल जी के सामने तीन विकल्प रखे जा सकते हैं — वे वाच्यार्थ में काव्यत्व मानते हैं, या रमणीयत्व, या दोनों; अंतिम पक्ष मानने पर वे काव्यत्व तथा रमणीयत्व में भिन्नता मानते हैं या अभिन्नता ? खाली वाच्यार्थ तो काव्येतर भाषा में भी पाया जाता है, तो क्या वहाँ भी शुक्लजी को काव्य मानना अभीष्ट होगा ? ऐसा नहीं हो सकता। उनकी काव्यमीमांसा से स्पष्ट है कि वे स्वयं काव्य में रस को प्रधान मानते हैं। रस तो वाच्य हो ही नहीं सकता अतः काव्यत्व भी कोरे वाच्यार्थ में नहीं रहेगा। इससे यह भी सिद्ध है कि काव्य का रामणीयक भी व्यंग्यार्थ में ही होता है। शुक्ल जी ही काव्यगत रमणीयता तीन तरह की मानते जान पड़ते हैं — वस्तुव्यंजना, अलंकारव्यंजना तथा भावव्यंजना। काव्य तथा तद्गत रमणीयता दोनों एक नहीं हो सकते। काव्य साधन है, रमणीयता साध्य। इस तरह तो काव्य का सौंदर्य व्यंग्यार्थ में है या वाच्यार्थ में; इस विषय में शुक्ल जी का मत स्पष्ट नहीं है।

इस उदाहरण के बारे में मान भी लें कि यहाँ चमत्कार वाच्यार्थ में ही है, तो क्या यह 'सामान्य सिद्धांत' हो सकता है ? साकेत के उक्त उदाहरण में वैसे हमें भी वाच्यार्थ ही विशेष सुंदर जँचता है और इस सारे पद्य का विशेष सौंदर्य "तो क्या कुछ देर लगाऊँ" इस वाक्य के वाच्यार्थ में ही है। किंतु सब जगह ऐसा होता है, यह हमें मान्य नहीं। इस पद्य से प्रतीत व्यंग्यार्थ—'उर्मिला की औत्सुक्य-भावना'—निःसंदेह यहाँ गौण हो गया है। वह इस " तो क्या कुछ देर लगाऊँ " का उपस्कारक होने के कारण अपनी विशेष सुंदरता खो बैठा है। ध्वनिवादी के मत से यह काव्य रसप्रधान काव्य न होकर गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य है। वस्तुतः यहाँ रस अलंकार बन गया है। कहा भी है:—'भिन्नोरसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः।' इस उदाहरण की विवेचना से ध्वनिवादी के मत पर कोई असर नहीं पड़ता। रस व्यंजना के निम्न उदाहरण में व्यंग्यार्थ में ही चमत्कार है :—

---

४. ध्वन्यालोक पृ० ५४०।

राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।
या तें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥ (तुलसी)

यहाँ 'कर टेकि रही, पल टारति नाहीं' के वाक्यार्थ में कोई विशेष सौंदर्य नहीं है। लावण्य की उत्कृष्टता रतिभाव तथा शृंगार-रस-रूप व्यंग्यार्थ में ही है—जिसके उपस्कारक व्रीडा तथा औत्सुक्य संचारी भाव हैं—यह सहृदय-हृदय-संवेद्य है। शुक्ल जी की, वाच्यार्थ ही में सौंदर्य मानने की, कल्पना हृदयंगम नहीं होती।

साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रमाता को अर्थ की प्रतीति बुद्धि से होती है, सौंदर्य की प्रतीति हृदय से। जहाँ वाच्यार्थ में अतिशय रमणीयता होती है, वहाँ भी व्यंग्यार्थ ही सौंदर्य के तारतम्य का निर्णायक होता है। सौंदर्यप्रतीति दोनों अर्थों की प्रतीति करने के बाद होती है। तभी हृदय एक की उत्कृष्टता और एक की निकृष्टता का निर्णय देता है, और इस तरह भी निर्णय में व्यंग्यार्थ ही सहायक सिद्ध होता है। इस बात को देखते हुए भी काव्यत्व तथा उसका सौंदर्य व्यंग्यार्थ के आधार पर स्थिर करना अनुचित न होगा।

रस वाच्य है या व्यंग्य, यहाँ शुक्ल जी चुप हैं। एक ओर वे अभिनवगुप्त की रससरणि को कुछ हद तक मानते हैं, अतः रस को व्यंग्य मानते हैं, यह निर्णय कर लेना अनुचित न होगा। दूसरी ओर वे वाच्यार्थ में ही सौंदर्य मानते हैं। क्या ध्वनिवादी इन दो मतों को परस्पर विरोधी मत न कहेगा? रसव्यंजना के विषय में वाच्य या व्यंग्य का सवाल ही न उठाना शुक्ल जी की सबसे बड़ी सतर्कता है। उन्हें खूब पता था किस तरह महिम भट्ट जैसे दिग्गज की भी, ध्वनिवादी की रसमीमांसा के विरुद्ध चूँ तक करने की हिम्मत न हुई थी। महिम भट्ट भी, रस को किसी न किसी तरह व्यंग्य मानते हुए यही कहते हैं—"काव्यस्यात्मनि संगिनि रसादिरूपे न कस्यचित् विमतिः।" महिम भट्ट की कोरी अभिधाशक्ति[५] तथा अनुमानप्रमाण रस की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं हो पाते। उपचार रूप में महिमभट्ट भी रस में ध्वनित्व तथा व्यंग्यव्यंजकभाव मानते ही हैं :—

"केवलं रसादिषु अनुमेयेष्वयमसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति सद्भावभ्रांतिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यंग्यभावाभ्युपगमः तन्निबंधनश्च ध्वनिव्यपदेशः। स तु तत्रौपचारिक एव

५. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।
न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥ —व्यक्तिविवेक (१. २६) पृ० १०५

प्रयुक्तो न मुख्यस्तस्य वक्ष्यमाणनयेन बाधितत्वात्। उपचारे च प्रयोजनं सचेतनचमत्कारकारित्वं नाम।"[६]

खैर, किसी तरह महिम भट्ट व्यंग्यव्यंजकभाव मानते ही हैं। आगे जाकर वे यहाँ तक कहते हैं:—

"मुख्य कृत्वा द्विविध एवार्थो वाच्यो गम्यश्चेति, उपचारस्तु तृतीयोऽपि समस्तीति सिद्धम्।"

इस विवेचन से शुक्ल जी के विषय में यह कहना अनुचित न होगा कि वे अभिधावादी आचार्य थे।

पर रसमीमांसा में शुक्ल जी का मत रस-प्रक्रिया की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखता है। रस के वास्तविक बीज, भाव तथा मनोविकार का साहित्यिक एवं मनःशास्त्रीय पद्धति पर जो सूक्ष्म विवेचन आचार्य शुक्ल ने किया है, वह निःसंदेह हिंदी साहित्य को अमूल्य देन है। शुक्ल जी के आचार्यत्व को प्रतिष्ठापित करने में वह अलम् है। अभिनवगुप्त के रससंबंधी सिद्धांतों में शुक्ल जी ने जो बातें जोड़ी हैं, वे चाहे परंपरावादी ध्वनिवादी को पसंद न आएँ, पर उनका अपना महत्त्व है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण दो बातें हैं — १. रस की दृष्टि से काव्यों की आनंद की साधनावस्थावाले तथा आनंद की सिद्धावस्थावाले इन दो विभागों में बाँटना, २. रस को मनोविज्ञान के आधार पर हृदय की उन्मुक्त दशा करार देना।

आनंद के आधार पर किए गए उक्त द्विविध काव्य के पहले हम 'आनंद' शब्द को ले लें। आनंद शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक मनोरंजन, दूसरा हृदय की मुक्त दशावाला अनुभव। आचार्य शुक्ल ने 'आनंद' का दोनों अर्थों में प्रयोग किया है, किंतु भिन्न भिन्न प्रकरण में। 'कविता क्या है?' शीर्षक निबंध में वे 'आनंद' का मनोरंजन अर्थ में प्रयोग करते कहते हैं: — "कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गंतव्यस्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ।" यहाँ हमें इतना ही कहना है कि आचार्यप्रवर पंडितराज को भी कोरा मनोरंजनवादी समझना तथा योरपीय कलावादियों के साथ रखना कहाँ तक ठीक है? "मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां,

६. वही, पृ० ७४–७५।

वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥" अक्षरशः सत्य कथन कहनेवाले पंडितराज को कोरा मनोरंजकतावादी मानना न्याय्य नहीं। साथ ही आलोचक पंडितराज जगन्नाथ भी रस के उपासक हैं, उनका 'रमणीयार्थ' और कुछ नहीं 'रस ही है।

शुक्ल जी ने 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' में 'आनंद' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, वह रसरूप आनंद है। यहाँ आनंद, सुख तथा दुःख वैयक्तिक राग तथा द्वेष से परे की चीज है। रसवादी भी आनंद की ऐसी ही कल्पना करता है। लोकमंगल की मानवतावादी विचारधारा के पोषक शुक्ल जी आनंद का उल्लास दुःख के सघन अंधकार का हृदय चीर कर निकलती हुई ज्योत्स्ना में मानते हैं। तभी तो वे कहते हैं :— "इसी प्रकार की लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनंदज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल तथा लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।"

आचार्य शुक्ल का यह आनंद स्थिर (Static) न होकर गत्यात्मक (Dynamic) है। शुद्धाद्वैत दर्शन की भाँति वे आनंद का सतत आभास न मानकर, उसमें आविर्भाव और तिरोभाव की प्रक्रिया को गतिशील मानते हैं। इसी आधार पर वे दो रूप मानते हैं : — एक स्थिर, दूसरा गत्यात्मक। स्थिर आनंद में लोकमंगल तथा लोकरंजन का वह रूप नहीं मिलता, जो गत्यात्मक में। काव्य में दोनों प्रकार के आनंद-रूप-रस की प्रतिष्ठापना पाई जाती है। पर कुछ काव्य आनंद की सिद्धावस्था लेकर चलते हैं; कुछ आनंद की साधनावस्था लेकर।

आनंद की सिद्धावस्था वाले काव्य उपभोग पक्ष को लेकर आते हैं। गाथा-सप्तशती, अमरुकशतक, गीतगोविंद, कृष्णभक्त कवियों के पद, बिहारी सतसई, तथा रीतिकाल के कवियों के फुटकर पद्य इस कोटि के हैं। मुक्तक तथा 'लीरिक' कविताएँ भी उपभोग पक्ष को लेकर चलती हैं। इनमें हमें 'प्रेम' भाव की ही व्यंजना मिलती है।

लोकमंगल की भावना, आनंद की साधनावस्था वाले काव्य में होती है। यहाँ उपभोगपक्ष ही न होकर प्रयत्नपक्ष भी होता है। मानवजीवन के गत्यात्मक सौंदर्य का, भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता प्रचंडता और मृदुता के विविध रूपों में दिग्दर्शन कराया जाता है। रामायण,

महाभारत, रामचरितमानस, पद्मावत का उत्तरार्द्ध और भूषण आदि के वीर रसात्मक मुक्तक इस साधनावस्था वाले काव्य के उदाहरण हैं। इन काव्यों में 'करुणा' भाव का प्रकाशन मिलता है। आचार्यप्रवर कहते हैं: -- 'साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों का बीजभाव करुणा ही ठहरता है।'' आचार्य शुक्ल का यह मानवतावादी दृष्टिकोण निःसंदेह काव्यानुभूति के विवेचन में नया कदम है। यहाँ यह भी संकेत कर दिया जाय कि उन्हें साधनावस्था वाला गत्यात्मक आनंदमय काव्य ही विशेष पसंद था। मैथ्यू आर्नल्ड की भाँति वे भी काव्य में जीवन का आलोचन देखना पसंद करते थे, जिसका पूर्ण रूप इन्हीं काव्यों में होता है। यही कारण है, उन्हें सूर या कबीर से तुलसी या जायसी ज्यादा पसंद थे। अंगरेजी कवि शेली का गीतिकार का रूप उन्हें उतना पसंद न था, जितना 'रिवोल्ट आव् इस्लाम' प्रबंध-काव्य का कवि शेली। यही कारण है शुक्ल जी प्रबंधकाव्य के विशेष कायल थे, मुक्तक के कम।

ध्वनिवादी आनंद की इस द्विविध दशा का निषेध करे। वह प्रबंध तथा मुक्तक दोनों के रस की आनंदानुभूति एक-सी माने। पर शुक्ल जी के इस मत की महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती। प्रबंधकाव्य में नानाविध मानवजीवन के चित्रण से उद्भूत आनंद तथा मुक्तक काव्य के स्थिर भाव की अनुभूति का आनंद अलग अलग ही है। वैसे संस्कृत साहित्यिक जब ''अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबंधशतायते'' कहता है, तो आनंद की सिद्धावस्था पर ही जोर देता है। पर फिर भी वह प्रबंध व मुक्तक की रसानुभूति एक सी मानता है। आनंदवर्धन महाभारत के शांतरस तथा रामायण के करुण रस की आनंदानुभूति में वही सरणि मानते जान पड़ते हैं, जो मुक्तकों के रस की आनंदानुभूति में।

शुक्ल जी के मत में हम 'लोकमंगल की भावना' का प्रयोग देखते हैं। स्पष्टतः इसका संबंध मानवतावाद, नीति तथा आचार से है। पर शुक्ल जी का मानवतावाद टॉल्स्टॉय वाला मानवतावाद नहीं है, इसे स्वयं वे ही स्पष्ट कर चुके हैं। टॉल्स्टॉय के मानवतावाद का मूल भाव 'प्रेम' है, शुक्ल जी के मानवतावाद का मूल भाव है करुणा। क्या अभिनवगुप्त के मत में नीति का कोई स्थान नहीं? पहले हमने कहा था कि अभिनव नीतिवादी नहीं हैं, वे दार्शनिक रसवादी हैं, इसका अभिप्राय यहाँ स्पष्ट कर दिया जाय। इसका यह अर्थ नहीं कि अभिनवगुप्त नीति के विरोधी हैं, न यही कि वे काव्य में अनाचार को भी छूट देते हैं। वस्तुतः काव्य के

विभावपक्ष में आचार या नीति की मर्यादा अभिनवगुप्त को भी मान्य है। उनका रसाभास या भावाभास कोटि का काव्य 'रस' इसीलिए नहीं माना जाता कि वह नीतिविरोधी है। 'अनौचित्य' के अंतर्गत 'नीतिविरोध' का भी समावेश है। अनौचित्य को रसांग का कारण मानते हुए ध्वनिकार ने कहा है :—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ (ध्वन्या० तृतीय)

अभिनवगुप्त को भी यह सिद्धांत स्वीकृत है। पर अभिनव गुप्त के मत की खास विशेषता है, रस को शैवदर्शन की 'निराभास' 'सोहऽम्' वाली प्रत्यभिज्ञा से जोड़ना। अभिनवगुप्त की यह दार्शनिक या आध्यात्मिक विशेषता उनके रससिद्धांत की जान है। यही कारण है हमने उन्हें दार्शनिक रसवादी कहा है। इस नामकरण में हमने 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवंति' न्याय का आश्रय लिया है। जैसा कि हम देखेंगे शुक्ल जी को रससिद्धांत पर 'अध्यात्म' की चाशनी चढ़ाना पसंद नहीं। काव्य में 'अध्यात्म' के नाम तक से उन्हें नफ़रत है। वे कहते हैं :— 'अध्यात्म शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।' शुक्ल जी में 'अध्यात्म' की जगह 'नीति' ने ली है, अतः उनके सिद्धांत को उक्त न्याय के आधार पर 'नीतिवादी रसवाद' कहा गया है। शुक्ल जी निःसंदेह नीति के उतने ही पोषक हैं, जितना मैथ्यू आर्नल्ड। आर्नल्ड के इस स्वर में शुक्ल जी का भी स्वर ढूँढ़ा जा सकता है :—

"A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life, a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life."[७]

आचार्य शुक्ल रस की दो कोटियाँ मानते हैं :- उत्तम कोटि तथा मध्यम कोटि। "साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्य" नामक निबंध में शुक्ल जी ने इन दोनों रसकोटियों का विवेचन किया है। साधारणीकरण में वे श्रोता का आश्रय के साथ तादात्म्य मानते हैं, व्यक्तिवैचित्र्य या शीलवैचित्र्य में नहीं। वे कहते हैं :— "इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि लीलाविशेष के परिज्ञान

---

७. (Arnold on " Wordsworth, " Essays in Criticism Second Series).

से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्यदशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है; द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।" शुक्ल जी की इस सरणि के आधार पर हम कह सकते हैं कि शाकुन्तल के दुष्यन्त के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है, किन्तु मानस के भरत या हनुमान्; रावण या मेघनाद के साथ नहीं। इसी तरह शेक्सपियर के मेकबेथ, हेमलेट या लियर के साथ भी हमारा तादात्म्य स्थापित नहीं हो पाता। वैसे शुक्ल जी यह भी मानते हैं कि शेक्सपियर के कई पात्रों के साथ किन्हीं किन्हीं स्थलों में हम तादात्म्य कर भी पाते हैं। जैसे हेमलेट की कई उक्तियाँ प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। इसीलिए डंटन जहाँ शेक्सपियर के हेमलेट में निरपेक्ष दृष्टि वाला चरित्रचित्रण मानता है, शुक्ल जी नहीं मानते। शुक्ल जी ने तीन तरह का व्यक्तिवैचित्र्य माना है। कुछ पात्रों का शील देखकर हम उनके प्रति श्रद्धा, भक्ति आदि उदात्त भावों का प्रदर्शन करते हैं, यथा भरत, हनुमान् आदि के चरित्र; कुछ के प्रति हमारे हृदय में घृणा, रोष, ग्लानि आदि अनुदात्त भावों का स्फुरण होता है, यथा रावण, कुंभकर्ण आदि। प्रथम में हमें आश्चर्यपूर्ण प्रसादन मिलता है, द्वितीय में आश्चर्यपूर्ण अवसादन। तीसरे ढंग का शीलवैचित्र्य कुतूहलमात्र को जन्म देता है, जिसे थ्योडोर डंटन नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि कहता है।

आचार्य शुक्ल के इस मसले को ध्वनिवादी दूसरे ही ढंग से सुलझाएगा। वह शुक्ल जी की साधारणीकरण वाली दशा की चरम परिणति को 'रस' कहता है, यहाँ आकर अभिनव के मत से प्रमाता व प्रमेय का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है। रस-दशा में प्रमाता व प्रमेय एक हो जाते हैं, वहाँ प्रमाता 'रसोऽहम्' की प्रतीति, या दार्शनिक भाषा में 'शिवोहम्' की प्रत्यभिज्ञा करता है। किन्तु कुछ ऐसी भी दशाएँ हैं, काव्यानुभूति के ऐसे भी प्रकार हैं, जहाँ यह द्वैतभाव नष्ट नहीं हो पाता। यहाँ इतना संकेत कर देना होगा कि किन्हीं विघ्नों[८] के कारण विषयी तथा विषय के

---

८ अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय की टीका में उन सात विघ्नों का संकेत किया है, जो रसपरिपूर्णता के बाधक होते हैं। इन पर भविष्य में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से स्वतन्त्र निबंध में विचार करने का प्रयत्न किया जायगा।

बीच की खाई, दिक् तथा काल की दृष्टि से उनका भेद बना रहता है और रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता। इस स्थिति में 'इदम्' का 'अहम्' में पर्यवसान नहीं हो पाता। इस दशा में रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशांति, भावसंधि, भावशबलता में से अन्यतम दशा हो सकती है। ध्वनिवादी शुक्ल जी के व्यक्तिवैचित्र्य का समाहार इन्हीं के अंतर्गत कर लेगा। शुक्ल जी के आश्चर्यपूर्ण प्रसादन को ध्वनिवादी 'भाव' या भावध्वनि मानेगा। भरत या हनुमान के प्रति जिस भाव का उदय होता है, वह श्रद्धा ही का तो है न। श्रद्धा कुछ नहीं देवता या गुरुजन (बड़े लोगों) के प्रति उत्पन्न रति का ही रूप है। अतः आश्चर्यपूर्ण प्रसादन के श्रद्धा या भक्तिवाले रूप को 'देवादि विषयक' रति मानना ध्वनिवादी को संमत होगा। आश्चर्यपूर्ण अवसादन, रसाभास तथा भावाभास, दोनों में पाया जाता है। हूणसम्राट मिहिरगुल की नृशंस चेष्टाओं के साथ हमारा तादात्म्य न हो पाएगा। इसी तरह रावण का सीता के प्रति प्रेम या राम के प्रति क्रोध हमारे हृदय में अवसादन ही उत्पन्न करेगा। हम रावण के इन व्यवहारों में क्रमशः शृंगाराभास[१] तथा रौद्राभास ही पाएँगे। इसी तरह रावण के उत्साह या वीरता के कार्य में भी हम वीराभास ही मानेंगे। ऐसे स्थलों पर हम तटस्थ होकर रावण के शील का पर्यवेक्षण करते हैं, उसका रस हमारा रस नहीं हो पाता। मान लीजिए काव्य में कोई कामुक किसी गणिका से प्रेम करता वर्णित किया गया है। यहाँ भी हमें रसप्रतीति न होगी, न आश्चर्यपूर्ण प्रसादवाले भाव की ही। यहाँ पर हम रतिभाव का आभास — भावाभास — मानेंगे।

ध्वनि के बाकी चार भेदों में गौर से देखा जाय तो न आश्चर्यपूर्ण प्रसादन ही होता है, न अवसादन ही। भावोदयादि चार कोटियों में व्यभिचारी-भाव-व्यंग्य होता है, उसका ही 'आनंद' प्रमाता को प्राप्त होता है। इनके उदाहरणों को देखने से पता चलता है कि यहाँ पाठक या श्रोता निरपेक्ष रूप में 'आनंद' की प्रतीति करता है। हम इनमें से नमूने के तौर पर एक उदाहरण ले लें। निम्न पद्य 'भावशांति' का उदाहरण है, जहाँ नायिका के हृदय का 'कोप'भाव शांत होता बताया गया है: —

---

१. यथा रावण के सीतावियोग जनित विरह — "सीतारलकमलभग्न हृदयः स्वस्थो न लंकेश्वरः" — में विप्रलंभ (शृंगार) का आभास ही है।

तस्याः सांद्रविलेपनस्तनयुगप्रश्लेषमुद्रांकितं,
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
संश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्यापि तद् विस्मृतम् ।।

नायक अपने मित्र से चर्चा कर रहा है कि किस तरह वह कोपाविष्ट नायिका के कोप को हलका करने में सफल हो सका। नायिका ने नायक के वक्षःस्थल पर परोपयोग के चिह्न देखकर कहा — "अरे धूर्त, उस अपर नायिका के विलोपनयुक्त स्तनतट के आलिंगन के कारण चिह्नित अपने वक्ष को मेरे पैरों पर गिरने के बहाने क्यों छिपा रहा है। नायिका के इस वचन का नायक पर कोई असर ही नहीं हुआ। वह पहले दर्जे का धूर्त जो था। उसने आश्चर्य से कहा, 'कहाँ है,' और फिर उस चिह्न को मिटाने के लिए झट से नायिका का आलिंगन कर लिया। इधर नायिका भी आश्लेषजनित सुख के कारण सारा गुस्सा ही भूल गई।

यहाँ काव्यानुशीलक को प्रधानतः 'रस' की प्रतीति तो होती ही नहीं। काव्यानुशीलक उस नायिका के साथ तादात्म्य नहीं कर पाता, जिसका 'कोप' शांत हो रहा है। रहा नायक, उसके साथ तादात्म्य हो सकता है, पर यहाँ नायक के भाव का वर्णन कवि को प्रधानतया अभीष्ट नहीं है। कवि का लक्ष्य कोपाविष्ट नायिका के कोपशांति वाले चमत्कार तक ही है। अतः पाठक या श्रोता तटस्थ रहकर नायिका के कोप का शांत होना देखकर चमत्कृत हो जाता है। इस काव्य की चरम परिणति कोपशांति में ही है, इससे आगे नहीं बढ़ पाती। इस बात को प्रदीपकार गोविंद ठाकुर ने कहा है : — "अत्र कोपशांतावेव चमत्कार विश्रामः।" रसगंगाधर में पंडितराज जगन्नाथ ने भी यही कहा है कि भावोदयादि में व्यभिचारी भाव का उदयादि ही सहृदय-चमत्कार-कारी होता है :— 'स च उत्पत्त्यवच्छिन्न एव ग्राह्यस्तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात्' अर्थात् इस भाव का उत्पत्तिदशा में ही श्रोता को 'आनंद' आता है, अतः उसकी उत्पत्तिदशा का ही ग्रहण करना होगा। भावशांति जैसी ही सरणि भावोदयादि भेदों में होती है। विस्तार के भय से केवल दिङ्मात्र विवेचन किया गया है।

अब हम शुक्ल जी के साधारणीकरण वाले बिंदु तथा हृदय की मुक्तदशावाले सिद्धांत को लेंगे। पहले हम यह जान लें कि काव्य की सौंदर्यानुभूति अथवा

'सौंदर्य' शब्द से कुछ लोगों को चिढ़ हो तो चमत्कारानुभूति में हमारा विषय क्या होता है ? इसके लिए हमें काव्यानुशीलन की प्रक्रिया की मीमांसा करनी होगी। पहले हम काव्य या नाटक को सुनतेदेखते हैं, उसका श्रावण या चाक्षुष प्रत्यक्ष करते हैं। क्या काव्य के शब्द या विभावादि हमारी रसानुभूति के विषय हैं ? नहीं, वे केवल ऐंद्रिय प्रत्यक्ष के विषय हैं। इसके बाद हम उनका मानसिक प्रत्यक्ष करते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में हम उनका 'बिंबग्रहण' करते हैं, या अभिनवगुप्त के शब्दों में हमें उनकी "मानसिक साक्षात्कारात्मिका प्रतीति" होती है। यहाँ हम विभावादि का मानस प्रत्यक्ष करते हैं। इसके आगे हम साधारणीकरण की दशा की ओर बढ़ते हैं। काव्य के ऐंद्रिय प्रत्यक्ष में तो कोई वैमत्य हो ही नहीं सकता। मानसिक प्रत्यक्ष के विषय में एक प्रश्न उठता है, कि विभावादि का मानसप्रत्यक्ष 'विशेष' का होता है, या 'सामान्य' का। यहाँ शुक्ल जी व अभिनव में भेद दिखाई पड़ेगा। शुक्ल जी मानसिक प्रत्यक्ष या बिंबग्रहण व्यक्ति या विशेष का ही मानते हैं, सामान्य या जाति का नहीं। अभिनवगुप्त " मानसिक प्रतीति " सामान्य या जाति की मानते जान पड़ते हैं, जिसे शैवदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में 'आभास' कहा जाता है। इस वैमत्य का विशेष कारण है। शुक्ल जी रस को लौकिक चीज मानते हैं, अतः बिंबग्रहण में व्यक्तिभान आवश्यक हो जाता है, क्योंकि लोक में व्यक्ति का ही प्रवृत्तिनिमित्तत्व देखा जाता है। अभिनवगुप्त रस को निर्विमर्शात्मक निराभासदशा मानते हैं, अतः काव्य के विषय को शक्ति (इदम्) में पर्यवसित करने के लिए "सामान्य" मानना पड़ता है। अभिनव के साधारणीकरण को समझने के लिए यह 'आभास' का सिद्धांत समझ लेना जरूरी होगा।

शैवदर्शन के मतानुसार अखंड शिव-शक्ति-रूप अद्वैततत्त्व निराभास की स्थिति है। यही 'आनंददशा' है। इस समय तक 'शिव' में 'स्वतंत्रा इच्छा' तक का उदय नहीं होता। तदनंतर लीला करने के हेतु परम शिवतत्त्व में स्वतंत्रा इच्छा उत्पन्न होती है, जो कुछ अन्य नहीं शिव का ही रूप है। इस इच्छा के कारण ही परम शिवरूप 'अहं' दो भागों में बँटकर शिवरूप 'अहम्' तथा शक्तिरूप 'इदम्' हो जाता है। इस प्रकार विषयी तथा विषय, प्रमाता तथा प्रमेय, शैव दार्शनिक के मत में परम शिवरूप 'अहम्' की स्वतंत्रा इच्छा के ही कारण बँट

गया है, जो एक ही अखंड तत्त्व के दो अंग हैं।[१०] साधक का लक्ष्य 'अहम्' और 'इदम्' की अभिन्नता समझ लेना तथा तदनंतर 'इदम्' का 'अहम्' में पर्यवसान कर परम शिवरूप 'अहम्' की आनंदात्मक प्रत्यभिज्ञा करना है। शैवदार्शनिक के मत में यही मुक्ति की दशा है। साधक के सामने सबसे बड़ी दिक्कत जो आती है, वह यह कि वह 'इदम्' के अनेक विवर्त इस नामरूपात्मक जगत् में देखता है। अतः शुद्ध शक्तिरूप 'इदम्' का ज्ञान कैसे होगा? इसीके लिए शैवदर्शन में 'आभास' की कल्पना की गई है। हम एक लौकिक उदाहरण ले लें। हम कई गायें देखते हैं, कई गोव्यक्तियों का ऐंद्रिय प्रत्यक्ष करते हैं। इससे ही हमें 'गोत्व' का भी ज्ञान हो जाता है। ऐंद्रिय प्रत्यक्ष 'गोविशेष' का होता है, तदनंतर 'गोत्व' का मानसिक प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार 'इदम्' के मानसिक प्रत्यक्ष का 'आभास' रूप में विश्लेषण शैवदर्शन की प्रमुख कल्पनाओं में से एक है। शैव दार्शनिक 'जाति' को ही 'आभासमात्र' कहते हैं।[११] विमर्शिनी की टीका भास्करी में भास्कर-कंठ ने बताया है कि प्रमाता गोत्वादि को प्रत्यक्ष रूप से देखता है, तथा गवेतर अश्वादि में उसे नहीं पाता, इसलिए गोत्व सभी गायों में है इस निश्चय पर पहुँच जाता है।[१२] आभासमात्र को हम 'अनेकता में एकता' (Unity in diversity) कह सकते हैं। पर इस स्थिति तक भी 'इदम्' के अनेक 'आभास' बने रहते हैं। इसके बाद जाकर 'इदम्' देशकालानवच्छिन्न होनेपर शुद्ध शक्ति रूप होता है, जो विमर्श की स्थिति है। यहीं प्रमाताप्रमेय की चेतनता संक्रांत होती देखता है। इसी का संकेत करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि इसके बाद अविकल्पक दशा

---

१०. निराभासात् पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्
द्विशाखा माशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम्।
स्वरूपादुन्मेष – प्रसरण – निमेषस्थितिजुषः
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्म निखिलम्॥
— ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी पृ० १

११. आभासमात्रं च सामान्यम् —विमर्शिनी; पृ० १६६ (काश्मीर सिरीज़ संस्करण)

१२. प्रमाता हि गोषु गोत्वं प्रत्यक्षेण पश्यन् अश्वादिषु तदनुपलभमानः सर्वगोव्यक्तिगतं गोत्वं निश्चिनोति॥
— भास्करी पृ० २३३ (सरस्वती भवन संस्करण)

में जाकर हमारा प्रमेयघट भी चेतन बनकर पूर्ण विश्वशरीर बन जाता है। (तदविकल्पकदशायां चित्स्वभावोऽसौ घटः चिद्वदेव विश्वशरीरः पूर्णः —विमर्शिनी) इसके बाद शक्ति का पर्यवसान शिव में हो जाता है, तथा अखंड अद्वैत आनंद की स्थिति आती है। शैवदर्शन में साधक के लिए आनंद तक पहुँचने की जो प्रक्रिया बताई गई है, उसी प्रक्रिया को अभिनवगुप्त रस दशा में मानते जान पड़ते हैं। इस प्रक्रिया की क्रमिक सोपानपरंपरा का संकेत हम आगे करेंगे।

'आभासमात्र' के विषय में एक बात और कह दें। अभिनव की तरह ही पश्चिम में भी कुछ ऐसे दार्शनिक तथा कवि भी रहे हैं, जो प्रातिभज्ञान का विषय आभासमात्र को ही मानते हैं। प्लातो का 'एइदे' (eide), जिसका 'प्लेटोनिक आइडिया' के रूप में पाश्चात्य तत्त्वज्ञान, सौंदर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र में बड़ा जिक्र होता रहा है, सामान्य या जाति ही है। 'प्लेटोनिक आइडिया' की काव्य तथा कला के क्षेत्र में जोरदार प्रतिष्ठापना करनेवालों में जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर मूर्धन्य है। शोपेनहावर कला तथा काव्य का प्रतिपाद्य 'प्लेटोनिक आइडिया' को ही मानता है, कर्तृत्व की दृष्टि से तथा भावना की दृष्टि से भी। फ्रेंच कवि मालार्मे (Mallarme) ने इसी 'सामान्य' को कला का प्रतिपाद्य मानकर इसे 'लनोशाँ प्यूर एला वॉ प्यूर' (Le notion pure et la bean pure) शुद्ध विचार तथा शुद्ध सौंदर्य — कहा है। रस्किन ने भी कहा था — किसी पूर्ण यौवन से उद्दीप्त गुलाब के फूल को अनेक मनुष्यों ने देखा। वह विविध मनुष्यों को विविध रूप में दिखाई पड़ा। पर साथ ही गुलाब के फूल की ऐसी पारमार्थिक सत्ता भी है, जो सबको एक ही तरह की दिखाई पड़ेगी। गुलाब जहाँ विशिष्ट व्यक्ति है, वहाँ उसका एक साधारण रूप भी है। कलाकार विशिष्टता में साधारणता ढूँढ़ता है। इसी साधारणता के कला में प्रकट करने को रस्किन महदुद्भावन या 'Grand invention' कहता है। लगभग सभी 'रोमैंटिक' कवि या आलोचक कला का प्रतिपाद्य साधारणतया सामान्य ही मानते हैं।

तो, शोपेनहावर कला का प्रतिपाद्य 'आइडिया' को मानता है। यह 'आइडिया' (Idea) अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण प्रतिभा के द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। हमारे यहाँ ध्वनिकार ने भी प्रतिभा को ही अभिनव अर्थसृष्टि का कारण माना है :— "न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदिस्यात् प्रतिभागुणः"[13]।

---

१३. ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत।

प्रतिभा या 'Genius' की परिभाषा ही शोपेनहावर ने यह मानी है कि यह वह शक्ति है, जो विषय के व्यक्तिरूप को ही नहीं उसके 'आइडिया' या सामान्यरूप का भी ज्ञान प्राप्त करती है। यह वह शक्ति है, जो प्रमाता को अपनी वैयक्तिकता से ऊपर उठाकर शुद्ध प्रमाता बना देती है।

Genius thus consists ...... in the capacity for knowing ...... not only individual things, which have their existence only in their relations, but the Ideas of such things, and of being oneself the correlative of the Ideas and thus no longer an individual, but the pure subject of the knowledge.[१४]

प्रतिभा, इस प्रकार दिक्कालानवच्छिन्न सामान्य का, शैवदार्शनिक की शब्दावली में 'आभासमात्र' का ज्ञान करानेवाली शक्ति है। यह कारयित्री तथा भावयित्री दोनों प्रतिभाओं की विशेषता है। इसका प्रमाता के अंतःसंस्कारों से घनिष्ट संबंध है। यहाँ हम इतना संकेत कर दें कि शोपेनहावर का तत्त्वज्ञान, दार्शनिक दृष्टि से शैवदर्शन के तथा उसका काव्यानुभूति संबंधी मत, अभिनवगुप्त की रससरणि के विशेष नजदीक है। दोनों एक ही हैं, यह मैं नहीं कह रहा हूँ।

शोपेनहावर जगत्, विषय, जड या 'इदं' का कारण 'अहम्' की इच्छा मानता है। 'दी वेल्त इस्त मीने वीले' (Die Welt ist miene Wille) — यह संसार मेरी ही इच्छा है — यह उसके दार्शनिक सिद्धांत का सूत्र है। पर शोपेनहावर इच्छा को दुःखदायक मानता है, यहाँ वह इच्छा को वही मानता है, जो शैवदार्शनिक की मनोधर्मरूप लौकिक इच्छा है।[१५] शैव दर्शन की परम शिव की अतिसूक्ष्म

१४. Schopenhouer : The world as Will and Idea. vol. I. B. III. p. 251.

१५. विमर्शिनी की टीका भास्करी में भास्करकंठ ने बताया है कि परम शिव की स्वतंत्रा इच्छा अत्यंत सूक्ष्म है, उसे मनोधर्मरूप लौकिक इच्छा से भिन्न समझना चाहिए। "अतिसूक्ष्मयेच्छाख्यया स्वरूपभूतया, न तु लौकिकेच्छया मनोधर्मरूपया ...।" (भास्करी पृ० २६६)। संभवतः लौकिक इच्छा को ही उत्पलराज व अभिनव ने 'संकल्प' (मनोधर्म) के अंतर्गत माना है:— "कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः" (ई० प्र० का० पृ० १२३)।

'स्वतंत्रा' इच्छा में दुःखदातृत्व नहीं है। वहाँ दुःखदातृत्व लौकिक इच्छा में होता है। शोपेनहावर तथा शैवदर्शन की 'इच्छा' का यह स्वरूपभेद ही उनके दार्शनिक सिद्धांतों को भिन्न बना देता है। शैवदर्शन शुद्ध आनंदवादी है, शोपेनहावर का दर्शन "प्रच्छन्न निराशावादी" (Pseudo-pessimistic)। विद्वानों को पता होगा कि पाश्चात्य दर्शन में शोपेनहावर को 'निराशावादियों का राजकुमार' (द प्रिंस आव् पेसिमिज्म) कहा जाता है।

इच्छा के दुःख जाल से छुटकारा पाने के शोपेनहावर दो उपाय मानता है — एक योग दूसरा कला। कला या काव्य के अनुशीलन में, प्रतिभा के बल से, हम कुछ क्षण के लिए इच्छा के दुःखजाल से मुक्त हो जाते हैं। पर योग वाला उपाय आत्यंतिक है। शोपेनहावर के मत का विशद विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा, पर इतना संकेत कर दिया जाय कि काव्य की आनंदानुभूति में शोपेनहावर ये परंपराएँ मानता है: —

१. काव्य या कला के विषय का वैयक्तिक रूप से परिचय,
२. प्रतिभा का उदय,
३. विषय का 'विचार' मात्र रह जाना, तथा विषयी का शुद्ध प्रमाता बन कर उसका आनंद लेना।

हम देखते हैं कि शोपेनहावर की यह आनंदानुभूति उस चरम परिपोषसीमा का स्पर्श नहीं कर पाती, जो अभिनवगुप्त की रसदशा की आत्मा है। शोपेनहावर की रसदशा में प्रमाता शुद्ध 'अहम्' बन जाता है, प्रमेय शुद्ध 'इदम्'; पर इसके बाद इस द्वैत का अद्वैत में पर्यवसान नहीं हो पाता; जब कि अभिनव की रसस्थिति में प्रमेय प्रमाता में पर्यवसित हो जाता है और प्रमाता केवल 'रसोऽहम्' का शुद्ध संवित्ज्ञान प्राप्त करता है।

अब हम अभिनव के मत को लेंगे। अभिनव, जैसा कि हम आगे देखेंगे, काव्यानुभूति में तीन प्रक्रियायें मानते हैं। ये तीन प्रकार के प्रत्यक्ष हैं — प्रथम प्रक्रिया भौतिक प्रत्यक्ष है, जिसके अंतर्गत विभावादि के वैयक्तिक रूप का चाक्षुष या श्रावण प्रत्यक्ष होता है; दूसरी प्रक्रिया मानसिक प्रत्यक्ष है, जहाँ प्रमाता का मन विभावादि के 'आभासमात्र' का मानसिक प्रत्यक्ष करता है; तीसरी प्रक्रिया संवित्प्रत्यक्ष है, जहाँ प्रमाता की संवित् स्थायी भाव का आत्मिक प्रत्यक्ष करती

है। 'संवित्' शब्द शैवदर्शन में आत्मा के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त विभावादि के वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक दोनों प्रत्यक्षों को रसानुभूति की किन्हीं दशाओं का प्रमुख विषय मानते हैं। जहाँतक संवित्प्रत्यक्ष का प्रश्न है, वहाँ ये विभावादि प्रमुख विषयरूप स्थायीभाव की प्रतीति के साधन बनते हैं। इस सारी कल्पना का कारण रस को दार्शनिक दृष्टि से देखना तथा उसे आत्मा की आनंददशा या मुक्तदशा मानना है। शुक्ल जी रसानुभूति की आभ्यंतरप्रक्रिया का विषय (object) स्थायी भाव को न मानकर, विभावादि को बल्कि आलंबन विभाव को ही मानते हैं। इसका कारण शुक्ल जी का रस को लौकिक मानने वाला सिद्धांत ही है। साथ ही शुक्ल जी इसीलिए मन या हृदय को ही रसानुभूति में विषयिता देते हैं, अभिनव की भाँति संवित् को नहीं।

तो स्पष्ट है. अभिनवगुप्त के मत से रसानुभूति के संवित् प्रत्यक्ष का वास्तविक विषय 'भाव' या स्थायी भाव है, तथा विभावादि अवांतर विषय उसी भाव को रसरूप में व्यंजित करनेवाले साधन हैं। स्थायी भाव की स्थिति शुक्ल जी और अभिनवगुप्त दोनों मानस में निहित मानते हैं। इसका आधार प्रमाता के ही इस जन्म तथा प्राग्जन्म के लौकिक अनुभव, वासना या संस्कार हैं।[१६] ये संस्कार

---

१६. शैव दर्शन के अनुसार हमारा अंतःसंस्कार ही बाह्य पदार्थों की सृष्टि करता है। ईश्वर प्र० कारिका के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ आह्निक में इस पर काफी विचार हुआ है। उनके मत से बहिः पदार्थों का इतना महत्त्व नहीं है। जब हम रसानुभूति में शकुंतलादि को देखते हैं, तो नायिकासामान्य का अंतः संस्कार ही उसके बाह्यानुभव का प्रधान कारण होता है और इस रसप्रक्रिया का कारण देखा जाय तो प्रमाता स्वयं है, (संभवतः इसीलिए विभावादि को कारण न मानकर व्यंजक मानना अभिनवगुप्त को अभीष्ट है)। रस को शैवदर्शन के ढंग पर देखना रसानुभूति में प्रमाता को ही महत्त्व देगा। ज्ञान, क्रियादि के लौकिक व्यवहार में भी शैव दार्शनिक यही मानते हैं। उनके मत से आंतरिक आभास (मानसिक प्रत्यक्ष) तथा बाह्य आभास (भौतिक प्रत्यक्ष), दोनों प्रत्यक्षों में ज्ञानक्रिया का हेतु प्रमाता, प्रत्यगात्मा, ही दोनों में उसी की (अकेले की) क्रिया पाई जाती है।

"मातैव कारणं तेन स चाभासद्वयस्थितौ।
कार्यस्य स्थित एवैकस्तदेकस्य क्रियोदिता ॥ (ई० प्र० का० २.४.७)

प्रमाता के पुराने अनुभवों के अवशेष हैं, जो स्मृति (नामक शक्ति) के द्वारा जागृत हो जाते हैं। संस्काररूप ये भाव अंतः संज्ञा में दबे पड़े रहते हैं। विभावादि इस दबी-पड़ी 'लेटेंट' भावतीत को व्यक्त कर उसी तरह रस में परिणत कर देते हैं, जैसे किसी नये सकोरे में मृत्तिका की सोंधी बास छिपी रहती है और पानी उसे व्यक्त कर देता है। यह भाव विभावादि के साथ कहीं बाहर से नहीं आता, वह पहले से ही मन में छिपा रहता है, विभावादि उसकी अभिव्यंजना के साधन हैं।

इसके पहले कि हम 'साधारणीकरण' पर कुछ कहें अभिनव की रसप्रक्रिया की सोपानपरंपरा समझ ली जाय। वैसे तो ध्वनिवादी रस को असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य मानता है, अर्थात् काव्यश्रवण या नाटकदर्शन के बाद रसानुभूति तक पहुँचने में इतनी द्रुत गति पाई जाती है कि हम उसके क्रम को नहीं देख पाते। पर इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ क्रम होता ही नहीं। यह क्रम इतना तीव्र होता है कि उसे स्पष्ट करने के लिए ध्वनिवादी 'शतपत्रपत्रभेदन्याय' का आश्रय लेते हैं। यदि किसी बंद कमल को एक सुई से छेदा जाय, तो सारे पत्र बड़ी तेजी के साथ छिद जाते हैं। वैसे हर एक बाद का पत्ता पहले पत्ते के बाद ही छिदता है, पर वह समयसीमा (time-limit) अतिसूक्ष्म होती है। इसीलिए कहा जाता है, नाटक देखने या काव्य सुनने के साथ ही साथ रसास्वाद होता है। अभिनव की यह सोपान परंपरा यों है --

(१) काव्यवाक्य से वाच्यार्थप्रतीति, या नाटक के विभावादि का भौतिक प्रत्यक्ष,

(२) उस काव्य में प्रयुक्त देशकालादि विभाग का लोप कर देशकालानवच्छिन्न विभावादि की मानसिक प्रतीति, (प्रथम साधारणीकरण)

(३) तदनंतर विभावादि के विशेषाभाव रूप के कारण केवल 'स्थायीभाव' का शुद्ध प्रमाता के रूप में अनुभव, (द्वितीय साधारणीकरण)

तथा इसकी व्याख्या "अंतराभासमानस्य तथारूपापरित्यागेनैव बहिराभासनं निर्माणं, ततश्च यद् वस्तु यमपेक्ष्य अंतरित्युक्तं तद् वस्तु तस्यैव आंतरवस्तुरूपविपरिवृत्ति-मात्रस्य बहिष्करणार्हं भवति, संविद्रूपं च प्रमातारमपेक्ष्य अंतराभासिनो भावास्तदपेक्षयैव बाह्याभासा; -- इति तेनैव तेषां बहिष्करणावभासनं युक्तं; ततश्च प्रमातैव कारणं भवति।"
(विमर्शिनी पृ० १४४; काश्मीर संस्करण)

(४) स्थायी भाव रूप प्रमेय तथा प्रमाता की समापत्तिरूप रसदशा का अनुभव (रसदशा)।

आचार्य अभिनवगुप्त ने कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतल के निम्न प्रसिद्ध पद्य को लेकर इस क्रम का संकेत नाट्यशास्त्र की व्याख्या भारती में किया है। कालिदास के इस पद्य में दुष्यंत से डरे हुए मृगपोत के भागने का वर्णन है, जहाँ 'भयानक' रस की चर्वणा पाई जाती है :--

> ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यंदने बद्धदृष्टिः,
> पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
> दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
> पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोक मुर्व्यां प्रयाति॥

इस काव्य में सबसे पहले, हमें वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। वाक्यार्थ का तात्पर्य यहाँ कण्व ऋषि के आश्रम के समीप के वन में भागते हुए मृगपोत विशेष के वैयक्तिक रूपग्रहण से है। इसके बाद इस वाक्य में उपात्तदेशकालादि को छोड़ने पर मृगपोत की निर्वैयक्तिक मानसप्रतीति होती है। तदनंतर मृगपोत केवल 'भयभीत सामान्य' हो जाता है; क्योंकि इस प्रतीति में उसका डरानेवाला (भयकर्ता) कौन है, इसकी ओर सहृदय सामाजिक का ध्यान नहीं जाता। इस तरह इस रसानुभूति का विषय 'मृग' नहीं रहता 'भययुक्त विषय' (Terrified object as such) बन जाता है। यहाँ प्रमाता वस्तुतः 'भय' (स्थायी भाव) का ही अनुभव करता है, जो उसके मानस में (फ्रायड के मतानुयायियों के अनुसार अवचेतन में) वासना या अंतःसंस्कार के रूप में स्थित रहता है। यह 'भय' ही 'प्रमाता' के निजी सुखदुःख से परे होने के कारण आनंदरूप में अभिव्यक्त होकर 'भयानक रस' में परिणत हो जाता है। यह रसानुभव प्रमाता के उन अनुभवों से भिन्न है, जहाँ वह यह अनुभव करता है कि मैं डरा हूँ, या यह मेरा शत्रु, मित्र या तटस्थ व्यक्ति डरा है; और जहाँ प्रमाता का सुख या दुःख अन्य प्रकार की रागद्वेषाद्याविष्ट बुद्धि का उदय करता रहता है। रसानुभव इस प्रकार की विघ्नबहुल प्रतीति से भिन्न होता है। यहाँ निर्विघ्न रूप में रसानुभव की इस तरह प्रतीति होती है, जैसे खुद भयानक रस ही सारे हृदय को आप्लावित कर रहा हो, जैसे आँखों के सामने घूम रहा हो। इसी बात को अभिनवगुप्त यों कहते हैं —

तस्य च 'ग्रीवाभंगाभिराम' मित्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थ प्रतिपत्तेरनंतरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततद्वाक्योपात्तदेशकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते, तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वात् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितं तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वेत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतमानादिबुद्ध्यंतरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये विविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः ।[१७]

इस सरणि से अभिनव की 'साधारणीकरण'[१८] की कल्पना पर प्रकाश पड़ता है। अभिनवगुप्त साधारणीकरण वहाँ मानते हैं, जहाँ मृगपोत विशेषाभाव-रूप होकर केवल 'भय' बन जाता है, अतः केवल साधारणीकृत स्थायीभाव बन जाता है। इन स्थायीभावों की साधारणीभावना के कारण विभावादि के वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक रूप हैं। यहाँ यह कह दिया जाय कि अभिनवगुप्त यह तो मानते हैं कि मानसिक प्रत्यक्ष में विभावादि निर्वैयक्तिक हो जाते हैं -- शैवदर्शन की पारिभाषिक पदावली में 'आभासमात्र' हो जाते हैं -- पर उस निर्वैयक्तिकता के लिए अभिनव स्वयं कहीं भी 'साधारणीकृत' या 'साधारणीभूत' विशेषण का प्रयोग नहीं करते। निर्वैयक्तिकता के लिए अभिनव 'विशेषरूपत्वाभाव' का प्रयोग करते हैं। वैसे (मम्मटादि के मत से) यह भी 'साधारणीकरण' ही है। जहाँ तक (रत्यादि) स्थायीभाव के साधारणीकरण का प्रश्न है, अभिनवगुप्त उसके लिए साफ तौर पर 'साधारणीभूत' का प्रयोग करते हैं। (देखिये 'भारती '- मूल का रेखांकित अंश) -- "तेन साधारणीभूता संतानवृत्तिरेकस्या एव संविदो वा गोचरीभूता

---

१७. अभिनवभारती षष्ठ अध्याय, पृ० २९० (गायकवाड़ ऑ० सिरीज़)।

१८. अभिनव की 'साधारणीकरण' की कल्पना को संभवतः हमारे विद्वान्-विशेषतः हिंदी विद्वान् ठीक तौर पर नहीं समझ पाए हैं। प्रत्येक ने अपने मत को अभिनव के मत पर थोपने की कोशिश की है। साथ ही भट्टनायक, अभिनव, मम्मट-विश्वनाथ, पंडित-राज, आचार्य शुक्ल तथा डा० श्यामसुंदरदास के साधारणीकरण (तथा मधुमती भूमिका) वाले मतों में कहाँ तक परस्पर भिन्नता है, इस पर भी विचार होना जरूरी है। भविष्य में 'साधारणीकरण' को ही लक्ष्य में रखकर इस अध्ययन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायगा। यहाँ शुक्ल जी व आचार्य अभिनव के एतत्संबंधी मतों पर प्रासंगिक संकेत जरूर मिल सकता है।

रतिः शृंगारः। साधारणीभावना च विभावादिभिः।" (भारती, पृ० २९७) ध्यान दीजिये 'साधारणीभूता' पद 'रतिः' का विशेषण है। साथ ही यहीं वे यह भी बताते हैं कि साधारणीभावना के हेतु विभावादि हैं। वैसे अभिनव विभावादि की निर्वैयक्तिकता मानते हैं, पर शैवतत्त्वज्ञान में अंतः संस्कार तथा उसके प्रत्यभिज्ञान की प्रधानता होने से स्थायीभाव को ही रसप्रक्रिया में विशेष महत्त्व देते जान पड़ते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं, कि प्रमाता को रसानुभव की स्थिति में कोरे स्थायी भाव का ही अनुभव होता है, विभावादि का नहीं। वस्तुतः स्थायी की चर्वणा विभावादि की चर्वणा से संवलित होकर रसचर्वणा के रूप में पर्यवसित होती है। तभी तो आचार्य अभिनवगुप्त ने रसचर्वणा में "प्रपाणकरसन्याय" की सरणि मानी है। जैसे किसी शरबत में मिश्री, इलायची, केशर, कस्तूरी, फलादि का रस सभी रहते हैं, पर वे सब मिलकर एक विलक्षण स्वाद की सृष्टि करते हैं, वैसे ही काव्यरस की चर्वणा में भी एक विलक्षण रसास्वाद होता है, जो स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संवलन के कारण होता है।

आगे जाकर विभावादि की निर्वैयक्तिकता को भी 'साधारणीकरण' कहा जाने लगा। मम्मट ने विभावादि के निर्वैयक्तिक रूप के लिए अभिनवगुप्त के ही मत का प्रदर्शन करते समय 'साधारणीकरण' का दो जगह संकेत किया है। एक जगह वे विभावादिकों के लिए 'साधारण्येन प्रतीतैः' विशेषण का प्रयोग करते हैं, दूसरी जगह रत्यादि स्थायीभाव के साथ 'साधारणोपायबलात्' का प्रयोग करते हैं।[१९] इस तरह मम्मट एक ओर विभावादि का, दूसरी ओर स्थायी भाव का, दोनों का साधारणीकरण मानते हैं। यही मत विश्वनाथ का है। विश्वनाथ पहला साधारणीकरण विभावादि का मानते हुए कहते हैं -- "व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः"।[२०] इसके बाद दूसरा साधारणीकरण वे रत्यादि स्थायी का भी मानते हैं -- "साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।"[२१] यहाँ 'अपि' शब्द साधारणीकरण के दो प्रकारों का स्पष्ट संकेत करता है।

---

१९. साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको ... ... साधारणोपायबलात् ... ... (काव्य प्रकाश चतुर्थ उ० पृ० ९७-९८)।

२०. साहित्यदर्पण, तृतीय परि० पृ० १११, २१. वही, पृ० ११३।

"विभावादि साधारणीकृत होते हैं" इस प्राच्य मत में 'आदि' से क्या तात्पर्य है, क्या अनुभाव तथा संचारी। इस तरह तो विभाव, अनुभाव और संचारी सभी साधारणीकृत होते हैं, यह सिद्ध होता है। हमें यही मान्य है। मम्मट तथा विश्वनाथ; तथा अभिनवगुप्त के 'विशेषरूपत्वाभाव' का भी यही सिद्धांत नजर आता है। वस्तुतः काव्य की शकुंतला, मालिनीतट, वसंतानिल, शकुंतला के हावभाव, उसके व्रीडादि संचारी सभी का निर्वैयक्तीकृतत्व या साधारणीकरण होता है। तदनंतर 'रतिभाव' साधारणीकृत होता है। शुक्लजी का मत भिन्न है; वे साधारणीभावना केवल आलंबन-विभाव-शकुंतला की ही मानते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं — 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है, वैसे ही सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है।' शुक्लजी के इस साधारणीकरण सिद्धांत के दो बिंदु हैं — प्रथम, आलंबनविभाव का साधारणीकरण, द्वितीय आश्रय के साथ श्रोता या पाठक का तादात्म्य।

हमने ऊपर वाले मृगसंबंधी उद्धरण में देखा कि अभिनवगुप्त प्रमाता के आश्रय के साथ तादात्म्य की कल्पना नहीं करते। इसका कारण यह कि शैवदार्शनिक प्रत्यगात्मा एक ही मानता है, मायीय अपोहनशक्ति से अनेकता का आभास होता है; अतः तादात्म्य स्वतः सिद्ध है, उसकी कल्पना की जरूरत ही नहीं पड़ती। साथ ही प्रत्यगात्मा के अंतःसंस्कार के रूप में रसानुभूति का विषय भावस्थित रहता है, अतः दुष्यंत के रतिभाव का अनुभव हमें होता हो, ऐसी कल्पना भी नहीं करनी पड़ती। वस्तुतः हम अपने ही अंतःसंस्काररूप रत्यादि भाव का अनुभव करते हैं। अभिनवगुप्त में एक शब्द मिलता है — 'तन्मयीभवनयोग्यता,' जिसका अर्थ कुछ लोगों ने 'आश्रय के साथ तादात्म्य' मान लिया है। डा० कांतिचंद्र पांडेय ने अपने ग्रंथ Indian Aesthetics में तन्मयीभवनयोग्यता का अनुवाद Identification किया है। मेरी समझ में तन्मयीभाव या 'तन्मयीभवनयोग्यता' के 'तन्मय' शब्द का अंगरेजी अनुवाद absorved (in the poetic object) होना चाहिए। Identification के अर्थ मानने पर, यह अभेदप्रतिपत्ति किस के साथ होती है, यह प्रश्न उठेगा। क्या आश्रय के साथ ? यदि ऐसा, तो वह बहुत बाद में होगा। डॉ० पांडेय की Self-forgetfulness वाली स्थिति के साथ वह

होगा, पहले नहीं। जब कि उन्हीं के मत से Identification काव्यार्थप्रतीति के बिलकुल बाद की, तथा मानसिक प्रतीति (कल्पना या भावना) के पहले की दशा है। मेरी समझ में यह काव्य विषय में मग्न होना ही है! मैं 'तत्' का अर्थ 'काव्यविषये' लेना ठीक समझता हूँ, 'रसाश्रये' (नायके) नहीं। शुक्लजी रस को लौकिक मानते हैं तथा वहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य की कल्पना का मानना जरूरी होता है, अभिनव की अद्वैतसरणि में जहाँ प्रमाता सदाशिव, तथा प्रमेय शक्ति बन जाता है, तथा आगे जाकर प्रमाता का ही 'अहं' प्रत्यवमर्शरूप अनुभव रह जाता है, इस तरह की कल्पना की जरूरत ही नहीं होती।

रस की दार्शनिक मीमांसा के कारण ही अभिनव शृंगारादि रसभेदों को भी औपचारिक ही मानते हैं। वस्तुतः रस, अखंड आनंद रूप है और प्रत्येक रस में शांतरस मुक्ताकलाप में अनुस्यूत सूत्र की तरह विद्यमान रहता है। रस केवल 'शांत' ही है, अभिनवगुप्त इस तरह की ही व्यंजना करते जान पड़ते हैं।

अभिनवगुप्त तथा शुक्ल जी के इन मतों का खास भेद यही है कि एक रस को अलौकिक सा[२२] मानते हैं, दूसरे लौकिक। एक उसमें अध्यात्म का प्रवेश करते हैं, दूसरे 'अध्यात्म' का निषेध करते हैं। आधुनिक हिंदी कविता के रहस्यवादी निकाय से शुक्ल जी को बड़ी चिढ़ थी। वहाँ वे आध्यात्मिक रसानुभूति को मानने के पक्ष में कतई न थे। महादेवी आदि की रहस्यवादी कविताओं को शुक्ल जी ने इसीलिए "सांप्रदायिक रहस्यवाद" (Dogmatic mysticism) कहा था। अभिनव का मत महादेवी आदि की रहस्यवादी कविता के प्रति क्या होता? वस्तुतः काव्य में भी आध्यात्मिकता के पोषक होने के कारण अभिनव इन्हें प्राथमिकता ही देते, तथा इन कविताओं में शांतरस मानते, जो शृंगारभंगी से निरूपित किया गया है। अभिनव के सामने शृंगार या रति के द्वारा व्यक्त आध्यात्मिक प्रेम का सवाल पैदा हुआ था। इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने अपने

---

२२. अभिनव वस्तुतः रस को न लौकिक मानते हैं, न अलौकिक ही। क्योंकि वह लौकिक अनुभव से तथा परिमित एवं परिमितेतर योगियों के अलौकिक संवेदन से भी भिन्न है। पर शैवदर्शन की कसौटी पर यह आध्यात्मिक सिद्ध होता ही है और हमने 'आध्यात्मिक' अर्थ में 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग किया है। वैसे रसानंद, मोक्षानंद से भिन्न भी है, क्योंकि रसानंद काव्यसामग्री पर आश्रित रहता है।

ही निम्न पद्य को उपन्यस्त कर अपने विचार व्यक्त किये हैं। अभिनव का यह पद्य यों है :—

त्वां चंद्रचूडं सहसा स्पृशंती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता।
सा चंद्रकांताकृतिपुत्रिकेव संविद् विलीयापि विलीयते मे ॥

यहाँ अभिनव ने शांतरस ही माना है। वे कहते हैं — अत्र शांत विभावानुभावनामपि शृंगारभंग्या निरूपणम्।[23] शुक्लजी महादेवी आदि के गीतों पर 'सांप्रदायिकता' का आरोप लगावें, फ्रायड से प्रभावित विद्वान् दमित कामवासना की कुंठाओं का प्रकाशन या ज्यानोफ़ के अनुगामी प्रगतिवादी 'पेती बुर्ज्वा' की पलायनवृत्ति घोषित करें, अभिनव उनमें उक्त सरणि मानते। इसका कारण यह भी है कि अभिनव का काव्यदर्शन काव्य या कलाकृति तक ही सीमित था, कलाकार या कवि के देशकाल या वैयक्तिक जीवन के आधार पर वहाँ काव्यमीमांसा नहीं हुई। शुक्लजी की, तथा और भी अद्यतन आलोचनसंप्रदायों की विशेषता यह है कि वे कवि के जीवन को मद्देनज़र रखते हुए समाजविज्ञान की आधारभित्ति पर कलाकृति का पर्यवेक्षण करते हैं। और इसी कारण संभव है, महादेवी जैसे रहस्यवादी कवियों पर ध्वनिवादी के निर्णय से हम संतुष्ट न हो सकें। पर यह नहीं भूलना चाहिए कि ध्वनिवादी के आलोचन का प्रथम और अंतिम लक्ष्य 'कवि की स्वानुभूति की विवृति' है।

अंत में हृदय की मुक्तदशा तथा आत्मा की मुक्तदशा पर दो शब्द और। अभिनव से लेकर पंडितराज तक सभी रस को न लौकिक, न अलौकिक बताते हुए भी उसकी आध्यात्मिक महत्ता घोषित करते रहे हैं। ध्वनिवादी रस को आध्यात्मिक मानता है, शुक्ल जी उसे आधिमानसिक या आधिहार्दिक। शुक्ल जी रस को मनोमय कोष की वस्तु मानते हैं, अभिनवगुप्त तथा उनके अनुयायी आनंदमय कोष की वस्तु। शुक्ल जी इस मत को अर्थवाद मानते हैं। पर शुक्ल जी के अर्थवाद कहने पर भी ध्वनिवादी इसे आध्यात्मिक ही घोषित करता कहता है —

या स्थायिभावरतिरेव निमित्तभेदा—
शृंगारमुख्यनवनाट्यरसीभवंती।
सामाजिकान् सहृदयान् नटनायकादीन्
आनंदयेत् सहजपूर्णरसोऽस्मि सोऽहम् ॥ (स्वात्मयोगप्रदीप)।

---

२३. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ३६७–६८ (तृतीय उद्योत — चौ० सं० सी०)

'हिरमजी' और 'नारंगी'— दोनों की विदेशयात्रा

[डॉ० सूर्यकांत]

मनुष्यों की यात्रा तो हम सभी देखते और सुनते आये हैं; और जीवजंतु भी हमारी न्याईं लंबीलंबी यात्राएँ करते रहे हैं इस तथ्य का ज्ञान हमें जीवशास्त्रियों की गवेषणाओं से हो जाता है। मानव ने देशदेशांतरों की यात्राएँ करके किस प्रकार धरती पर अपना आधिपत्य स्थापित किया है इस बात को बताने की आज आवश्यकता नहीं है। और चाहे पिछली कुछ शतियों से हम भारतीयों का विदेश-यात्रा की ओर कैसा भी रुख रहा हो, किंतु एक दिन देशदेशांतरों की यात्रा करना और वहाँ के नरनारियों को चरित्र की दीक्षा देना हम लोग अपना कर्तव्य समझते थे, इस बात की पुष्टि हमारे 'चरक' एवं 'परिव्राजक' आदि शब्दों से हो जाती है।

हमारे यहाँ यजुर्वेदियों की एक शाखा का नाम ही 'चरक' था और निश्चय ही उनका यह नाम अपने जीवन में निरंतर पर्यटन करते रहने के कारण पड़ा होगा। जीवन के अंतिम याम में देशदेशांतरों में परिव्रजन अथवा पर्यटन करना हमारे पुरुखाओं का आवश्यक कर्तव्य था, उनकी इसी प्रवृत्ति के कारण बुढ़ापे में उनका 'परिव्राजक' नाम पड़ जाया करता था। यह एक धार्मिक प्रथा थी और इसका निभाना हमारे पुरुखाओं के लिये अनिवार्यसा था।

उच्चार्यमाण वर्णों को यथार्थ शब्द न मानकर उनके द्वारा अभिव्यक्त होने वाले 'स्फोट' को शब्द बना कर हमारे शास्त्रियों ने विज्ञान की एक सुनहरी छड़ी ढूँढ निकाली थी, और शब्द को सर्वव्यापी आकाश का गुण बताकर उन्होंने इसकी व्यापकता एवं नित्यता का अचूक स्थापन किया था। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर गुणी आकाश का ही 'नभस्' नाम रखकर उन्होंने गुण और गुणी को एक दूसरे के अत्यंत निकट ला बिठाया था। संस्कृत में नभ् धातु का अर्थ 'शब्द करना' है; और इस शब्दक्रिया के आधार पर ही आकाश को हमने 'नभस्' संज्ञा दी है। शब्द के कारण ही हम आसमान में 'गरजकर' बरसनेवाले बादलों को 'अभ्र' कहा करते हैं।

और सचमुच 'र' प्रत्यय पर उदात्त स्वर के चले आने के कारण 'नभ्' का 'न' 'अ' में बदल गया है, जैसा कि प्रार्थनार्थक 'नाध्' धातु से निष्पन्न होनेवाले प्रार्थकवाची 'आध्र' शब्द में स्पष्ट रूप से देखा गया है। अपने 'अंबष्ठ, अंबष्ठा एवं ओवष्ठ'[1] नामक लेख में हमने इस बात पर व्यापक विवेचना की है।

नादात्मक शब्द की शरीर में चलनेवाली यात्रा का वैज्ञानिक संकेत तो कबीर आदि संतों की वाणियों में जगह जगह मिलता है; किंतु इस प्रकार का नाद अवस्था विशेष में पहुँचकर विश्व भर की हवा खा सकता है इस तथ्य का इन संतों को संभवतः भान नहीं हो पाया था। हमारे वैज्ञानिकों ने शब्द मात्र को यंत्र का चोला पहरा कर उसे भी विश्व के कोनेकोने की सैर करा दी है। यही है वह शब्दब्रह्म जिसके बारे में कह सकते हैं :—

"बिन पग चलै सुनै बिन काना"

यह तो हुई शब्द की नादरूप में देशदेशांतरों में पर्यटन की बात। अब आइये, भाषाविज्ञान की दृष्टि से खास खासशब्दों के देशाटन की ओर। यहाँ भी आपको शब्दों की लंबीलंबी यात्राएँ मिलेंगी; जिनमें कि इनमें से कुछेक ने धरती के कोनेकोने का पानी पिया है और जगहजगह पर अठखेलियाँ खेली हैं।

यात्रा की दृष्टि से हिंदी के 'आटा' शब्द पर प्रकाश डाला जा चुका है और विद्वान् बता चुके हैं कि किस प्रकार 'आटा' के अनेक छोटेबड़े भाई देशदेशांतर में आज भी ठाठ से अपना व्यापार चला रहे हैं।

नाना जन-जनपदों में अथक यात्रा करने की दृष्टि से हिंदी का 'हिरमजी' शब्द 'आटा' से कहीं आगे निकल गया है और नयेनये देशों में नयेनये चोले पहरने में तो इसने संगियों को भी कोसों पीछे छोड़ दिया है।

'हिरमजी' एक प्रकार का लाल पदार्थ है जिसे तेल में मिलाकर पालिश करने के काम में लाते हैं। हिरमजी का रंग गाढ़ा भूरा लाल होता है और यही है वह प्रमुख तत्त्व जिसके आधार पर उसका यह नाम पड़ा है। 'हिरम जी' का रंग ठीक वही है जो कि बरसात में पैदा हो जाने वाले 'गिजाई' नामक कृमि का होता है। और ज्यों ही 'हिरमजी' के प्रकरण में हम 'कृमि' को याद करते हैं, त्योंही हमें 'हिरम जी' शब्द की व्युत्पत्ति का संकेत हाथ लग जाता है।

निश्चय ही हिंदी के 'हिरमजी' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के कृमि शब्द

[1] देखिए, B. C. Law volume, दूसरा भाग।

से है, जिसके रूपरूपांतर हमें विश्व की प्रायः सभी अग्रणी भाषाओं में मिलते हैं। अंग्रेजी के क्रिमजन = Crimson, क्रेमोइज्जी = cramoisy (= लाल), कार्मिन = carmine, केर्मेज = kermes (लालरंग), कर्मेसाइट = kermesite आदि शब्दों में हमें संस्कृत के 'कृमि' शब्द का ही रूपवैभव खिला मिलता है। हो सकता है कि अंग्रेजी के वेर्मि = vermi और वर्म = worm (= कीट) शब्दों में भी संस्कृत का 'कृमि' शब्द ही मौनावस्था में छिपा बैठा हो, क्योंकि वेर्मि तथा वर्म दोनों ही का अर्थ 'मुड़नेमुड़ाने वाला है" और यही अर्थ है संस्कृति की क्रम् धातु का, जिससे कि हम 'कृमि' शब्द की व्युत्पत्ति मानते हैं।

स्पेनिश क्रेमेज़िन = cremesin एवं कार्मेसी = carmesi में तथा इटालियन खेर्मिसी = chermisi अथवा क्रेमिसी = cremisi में भी संस्कृत के 'कृमि' के ही चरण फैले हुए दीख पड़ते हैं। स्पेनिश कार्मेसी तथा इटैलियन खेर्मिसी क्रेमिसी के गोरखधंधे से ही फरांसीसी क्रमोइसी = cramoisi की उत्पत्ति हुई है जिससे आगे चलकर अंग्रेजी के प्राचीन किंतु आजकल अप्रयुक्त क्रैमोएज़ी = cramoisie एवं cramoisy शब्द निष्पन्न हुए हैं। 'क़िरमिज़' = qirmiz को लैटिन के मिनिउम = minium शब्द के साथ मिला देनेपर लैटिन के कारमिनिउम = carminium शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिससे आगे चलकर फरांसीसी कार्मिन = carmin एवं कार्मिने = carmine ये दोनों शब्द हाथ लगे हैं। स्पेनिश, इटालियन तथा फरांसीसी भाषाओं के इन सभी शब्दों का 'लाल रंग का कीट विशेष' अर्थ है और यही अर्थ है हमारे संस्कृत के 'कृमि' शब्द का।

उक्त विवरण से हमें 'कृमि' शब्द के प्रायः उतने ही रूपरूपांतर मिल जाते हैं जितने कि बरसाती 'गिजाई' के पैर होते हैं; फिर इस बात में अचरज ही क्या कि देशदेशांतरों के पर्यटन में सहस्रपाद गिजाई ने द्विपाद मानव को सचमुच मुँह की खिला दी हो। खैर, यह तो हुई संस्कृत के कृमि शब्द को अपने परिवार की भारतयोरपीय भाषाओं के दरबार में मिलनेवाले आवभगत की बात। अब आइये देखें कि संस्कृतीय कृमि शब्द का विजातीय परिवार की भाषाओं की मजलिस में कैसा स्वागत हुआ है।

अरबी में अलक़िरमिज़ = al-quirmiz एक लाल कीट विशेष का नाम है; और हम जानते हैं कि अन्य भाषाओं की न्याईं अरबी में भी कभी कभी 'अल' उपसर्ग अपने से आगे आने वाले शब्द में मिलकर एक हो जाया करता है।

निश्चय ही अरबी के क़िरमिज़ शब्द की निष्पत्ति या तो संस्कृत के कृमि शब्द से हुई है अथवा इन दोनों ही शब्दों की व्युत्पत्ति किसी ऐसी प्रागैतिहासिक धातु से हुई है जो कि भारतयोरपीय एवं सेमेटिक भाषा परिवार की सामान्य संपत्ति रही हो। इस संभावना का विशद विवेचन हमने अपने 'इंडो योरपियन एंड सेमेटिक' नामक प्रबंध में किया है।

इस प्रकार ध्यान से देखने पर पता चलता है कि अरबी के अलक़िर्मिज़ = al-qirmiz, फरांसीसी के अलकेर्मेस = alkermes एवं स्पेनिश के अलकेर्मेज़ = alkermez तीनों ही मुख्य शब्दों में संस्कृत का 'कृमि' शब्द सदियों से चुपचाप बैठा इतिहास के पन्ने उलटता आ रहा है। उसकी यह मौनमुद्रा ही उसके सतत क्रमण (क्रम् = चलना) को अक्षुण्ण बनाए रखने में समर्थ हुई है।

स्पष्ट है कि यदि अपने लैटिन, स्पेनिश, इटालियन, फरांसीसी, इंग्लिश तथा अरबी रूपों में संस्कृत का कृमि शब्द विकसित हुआ है तो हिंदी का 'हिरमजी' शब्द विदेशी खेर्मेज अथवा उसी के समान किसी और रूपांतर से आया है; और कृमि शब्द पर इस दृष्टि से विचार करने पर भाषाजगत् के इतिहास की यह कैसी अनोखी लड़ी हाथ लगती है जिसमें जो एक चीज दुनिया को एक दिन हमने दी थी वह देशविदेशों में नवीन रूप धारण करके फिर हमारे पास लौट आई है।

हिंदी के नारंगी शब्द के भाईबंद भारत की इतर भाषाओं में नाना रूप धारण करके फैले पड़े हैं। संस्कृत में इसका रूप नारंग है जिसका अर्थ है "सुगंध वाला" फल, और नारंगी अपनी सुगंध के लिये मशहूर हैं; और तामिल तक में 'नरु' का अर्थ है 'सुगंधित'।

अब आइये अंग्रेजी के औरेंज = orange शब्द की ओर जिसका प्राचीन फरांसीसी रूप ओरांज = orenge तथा पोर्चुगीज रूप अउरंज = auranga एवं अरंज = aranja हैं। यहाँ भी हमें 'न' का 'अ' में परिवर्तन मिलता है, जिसका उदाहरण हम अभी अभ्र (= नभ्+र) एवं आघ्र (नाघ्+र) में देख चुके हैं। अभ्र तथा आघ्र में न के अ में होनेवाले परिवर्तन का कारण स्वर का 'र' प्रत्यय पर चला जाना था; किंतु औरेंज में नारंग का 'न' 'अ' में क्यों बदला यह बात विचारणीय है।

हो सकता है कि यहाँ भी परिवर्तन का मूल कारण स्वर ही रहा हो; किंतु संभावना यह भी है कि लेटिन में सोने को अउरुम् (= aurum) कहते हैं और

पोर्चुगीज में अउर् (= aur) और नारंगी का रंग गहरा सुनहरा होता है यह बात सर्व प्रत्यक्ष है। अब स्पष्ट है कि नारंगी के सुनहरे रंग को देखकर 'नार्' को 'अउर्' में बदल दिया गया और औरेंज का अर्थ किया गया 'वह फल जिसका रंग सोने जैसा हो'। क्योंकि 'न' का 'अ' में परिवर्तन भाषाशास्त्र में प्रसिद्ध है जब कि 'अ' का 'न' में परिवर्तन हमने आजतक नहीं देखा,* इसलिये संस्कृत के नारंग से पोर्चुगीज 'अरंज' की निष्पत्ति युक्तिसंगत है न कि पोर्चुगीज अरंज से संस्कृत 'नारंग' की। इस बात की पुष्टि अरबी में मिलने वाले 'नारंज' शब्द से हो जाती है। स्पष्ट है कि संस्कृत के 'नारंग' शब्द की यात्रा भारत से अरब की ओर हुई और वहाँ से उसका डेरा योरप की ओर बढ़ा।

संस्कृत के नारंग शब्द के रूपरूपांतरों में भाषाशास्त्र के कुछ प्रमुख सिद्धांत छिपे हुए हैं। इसके रूपांतरों में हमें न केवल अर्थों का मिश्रण मिलता है अपितु इसके घटक शब्दों में भी मिश्रण हुआ दीख पड़ता है। तभी तो जहाँ हमारे नारंग शब्द के अर्थ में सुगंधि तत्त्वप्रधानतः स्थापनीय है। वहाँ पोर्चुगीज अरंज शब्द अपने सौवर्णवर्ण को स्थापित करता है, और न का अ में परिवर्तन क्यों हुआ इसके विषय में हम दो संभावनाएँ पहले ही देख चुके हैं।

इस धरती पर मानव के परिवार का कोई ओर नहीं और कोई छोर नहीं। संभवतः मनु और इडा के एक ही युगल से यह सारी मानवी प्रजा फलीफूली हो; किंतु इससे भी अधिक संभव है कि धरती पर एक ही समय जगह जगह पर मानव-युगल अपने पूर्वरूपों में से सोते उठ बैठे हों। यह एक बहुत पुरानी कहानी है—इसके विषय में अधिक विवाद करना छोटे मुँह बड़ी बात करना है।

---

* लोकव्यवहार में 'अ' का 'न' होते जाने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। यथा — १. बहुत से बूढ़े लोग औरंगजेब को नौरंगजेब कहते हैं। २. काशी का मुहल्ला औरंगाबाद प्रायः साधारण लोगों के द्वारा नौरंगाबाद भी कहा जाता है। ३. साहित्य में भी देखिए—

क ... ... नवरंगजेब एते काम कीन्हें ... ... (भूषण, शिवा बावनी, १४)

ख ... ... कीन्हीं तब नौरँग नौरंग ने ... ... (वही, १६)

ग ... ... भए स्याह मुख नौरंग सियाह... ... (वही १७)

घ ... ... अलि नवरंगजेब चंपा सिवराज है (वही १८, १६)

—संपादक

भाषाएँ भी संभवतः एक मूलभाषा से उत्पन्न होकर मानव परिवारों के छोटे छोटे शिविरों में जगहजगह फूट पड़ी हों और बाद में उपभाषाओं के रूप में सजती-सजाती अपने वर्तमान रूपों तक पहुँच गई हों। इनमें मिलनेवाले समान शब्द पुराने जमाने की याद जगा देते हैं जब कि हमारे पुरखा कभी पासपास रहते थे; हम सबका आपस में खुला आदानप्रदान था और हम सभी पहले मानव थे और फिर कुछ और।

वह घड़ी सुनहरी थी। बाहरवालों के लिये वह 'अउरंज' जैसी थी और हमारे लिए नारंगी जैसी सुगंधमय। रूपगंध के इस संमिश्रण में ही मानव जाति का इतिहास छिपा हुआ है।

संस्कृत वाङ्मय और कहावतें — एक विहंगम दृष्टि

[डा० कन्हैयालाल सहल]

१ — वेदों की कहावतें

लोकोक्तियाँ कितनी प्राचीन हैं, इसके संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष के प्राचीनतम लिखित साहित्य ऋग्वेद में लोकोक्तियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथा,

क. न वै स्त्रैणानि सख्यानि संति।
स्त्रियों की मित्रता कोई मित्रता नहीं।

ख. अग्निनाग्निः समिद्धते।
आग से आग भड़कती है।

ग. न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः।[१]
बिना कष्ट उठाये देवता भी सहायता नहीं करते।

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में 'ऋग्वेद से शुरू करके अबतक के भारतीय साहित्य में प्रवाद और कहावतों का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में कितने ही पूरे अर्ध ऋक्, पाद या अर्धपाद को अर्थतः लोकोक्ति या कहावत कहा जा सकता है।'[२] इसी प्रकार 'बाङ्ला प्रवाद' के विद्वान लेखक श्री सुशीलकुमार दे की भी मान्यता है कि 'न वै स्त्रैणानि सख्यानि संति' ऋग्वेद संवाद सूक्त १०.९५।१५ जैसे प्रवाद वाक्य न केवल ऋग्वेद में, बल्कि ब्राह्मण ग्रंथों और बौद्ध त्रिपिटक में भी विरल नहीं हैं।[३]

---

१ मिलाइये — (१) God helps those who help themselves.
(२) हिम्मतेमरदां, मददेखुदा।
बादशाह की बेटी, फकीर से निकाह।

२ देखिये, भूमिका, राजस्थानी कहावतां।

३ द्रष्टव्य, बाङ्ला प्रवाद, भूमिका। प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६।

वैदिक कहावतों का अभी कोई विधिवत् अध्ययन और पर्यालोचन नहीं हुआ है। हाँ, धा द्विवेद नामक एक विद्वान् ने अवश्य 'नीति मंजरी' शीर्षक ग्रंथ की रचना की थी जिसमें आठ अध्याय और २०० श्लोक हैं। श्लोक के पूर्वार्द्ध में कोई सूक्ति अथवा कहावत है तथा उत्तरार्द्ध में स्पष्टीकरण के लिए किसी कथा की ओर संकेत है जिसका या तो ऋग्वेद में वर्णन हुआ है अथवा जो वहाँ प्रसंगतः प्राप्त है। यहाँ कुछ श्लोक नीतिमंजरी से उदाहरणार्थ उद्धृत किये जा रहे हैं —

बहुप्रजस्य पुत्रस्य सुवाचो पि सदा विपत् ॥
सीदन्निन्द्रं मधुच्छन्दा वयस्याचष्टवीत नः ॥ ऋ० १, ४, ६,

विभज्य भुञ्जते संतो भक्ष्यं प्राप्य सहाग्निना।
चतुरश्चमसान्कृत्वा तं सोममृभवः पपुः ॥ ऋ० १, २०, ६.
शुभाशुभं कृतं कर्म भुञ्जते देवता अपि।
सविता हेमहस्तोऽभूद्भगोऽन्धः पूषको द्विजः ॥ ऋ० १, ३५, ६.
प्रभोरपि थिगर्थित्वं रूपहानिं करोति यत्।
मेधातिथिं यदायाचदिन्द्रो मेषोऽभवत्ततः ॥ ऋ० १, ५१, १.
तत्त्वविदपि संसारे मूढो भवति लोभतः।
तत्त्वज्ञा सरमायाचदिन्द्रमन्नं गवां ग्रहे ॥ ऋ० १, ६२, ३.
अन्यः सुहृज्जनो भ्राता शत्रुर्भ्राता सहोदरः।
अश्विभ्यां तारितो भुज्युस्त्रितः कूपे निपातितः ॥ ऋ० १, १०५, १७.
यादृशाज्जायते जंतुर्नाम कर्मास्य तादृशम्।
अश्विनावश्वजावश्वं वदतुः पेदवे सितम् ॥ ऋ० १, ११६, ६.
कुलक्रमागतो धर्मो न त्याज्यः प्रभुभिः सह।
कण्वोऽश्विभ्यां भिषग्भ्यां हि सुत्वक् सुश्रुक्कृतः सुदृक् ॥ ऋ० १, ११७, ८.
न दद्याद्दोषशीलानामाश्रयं क्रूरकर्मणाम्।
दैत्या दत्ताश्रयाः कूपे प्राक्षिपन्रेभवंदनौ ॥ ऋ० १, ११६, ११, २४.
देवा रमन्ति तं नित्यं यस्य स्याद्विमलं मनः।
ररक्षेन्द्रोऽमलाम् श्रोणतुर्वीतियदुतुर्वशान् ॥ ऋ० १, ५४, ६.

धा द्विवेद ने स्वयं ही नीति मंजरी के श्लोकों की रचना की और उन पर टीका

लिखी। टीका में सायणभाष्य की पद्धति का अनुसरण किया गया है, इसलिए 'नीति मंजरी' का रचयिता सायण से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता।"

२— ब्राह्मण ग्रंथों की कहावतें

वेदों की भाँति ब्राह्मणग्रंथों में भी कहावतें और सूक्तियाँ इतस्ततः बिखरी पड़ी हैं। उदाहरणार्थ—

क अशुभं कृत्वा मेद्यति।

ख कृष्णो वै भूत्वा पर्जन्यो वर्षति।[५]

ग सत्यं वा धर्मः।

घ यद् वै न्यूनं तत् पूर्णम्, यत् पूर्णम् तत् न्यूनम्।

ङ मनुष्या एवैकेऽतिक्रामंति।

ब्राह्मण ग्रंथों में तो 'सुभाषित' शब्द का भी प्रत्यक्ष प्रयोग हुआ है। यथा,

"एषा वक्ष्यमाणा गाथा याज्ञिकैः सर्वैर्गीयमाना सुभाषितरूपाऽभिहिताः सर्वतो गीयते वक्ष्यते। यथा इवा स्थुरिणेकेन यायादकृत्वा न्यदुपयोजनाय। एवं यांति ते बहवो जना सः पुरोदयाज्जुह्वतियेग्निहोत्रम्॥ ऐ० ब्रा० २१, ५।

ऐतरेय ब्राह्मण में ही हरिश्चंद्र की कथा के प्रसंग में निम्नलिखित सुभाषित उपलब्ध होते हैं—

क. नानाश्रांताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।

ख. आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥

उक्त ब्राह्मणग्रंथ में प्रयुक्त 'सुभाषित' शब्द लोकोक्ति का ही रूप जान पड़ता है।

"आंख्या देखी परसराम कदे न झूठी होय" राजस्थानी भाषा की एक प्रसिद्ध कहावत है जिसकी समानांतर उक्ति 'चक्षुर्वै सत्यम्' तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.१४.)

---

४. Indian Antiquary April 1876. Vol. V. The Nitimanjari of a Dya Dviveda by Dr. F. Kielhorn, Deccan College Poona.

५. मिलाइये— "कालीघटा बरसंत।"

में भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण ग्रंथों के संबंध में भी समझना चाहिए।

३ — उपनिषदों की कहावतें

क. प्राज्ञवर्ग की कहावतें

उपनिषदों में वैदिक ज्ञानकांड का विवेचन होने के कारण उनको वेदों का मस्तक कहा गया है। दार्शनिक ग्रंथों में लोकोक्तियों का प्रायः अभाव पाया जाता है। इसका कारण यह है कि लोकोक्तियाँ मुख्यतः जनसामान्य के धरातल की उक्तियाँ होती हैं, जब कि दार्शनिकता तलस्पर्शी चिंतन की अपेक्षा रखती है। इसलिए दार्शनिक ग्रंथों की अनेक उक्तियाँ लोकोक्तियाँ न रहकर प्राज्ञोक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। यहाँ पर उपनिषदों से कुछ प्राज्ञोक्तियों के उदाहरण दिये जा रहे हैं —

१ आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवति। बृ० उ० २।४।५
२ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो ...... बृ० २।४।५, ४।५।६
३ आचारः प्रथमो धर्मः। भाव सं० ४।१
४ अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। भ० गीता १०।३२
५ कर्मणा बध्यते जंतुर्विद्यया तु प्रमुच्यते। १ सं० सो० ३।२८
६ उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्। महो० ६।७१
७ उर्वी पृथ्वी, बहुला विश्वा। महा ना० १०।१४[६]
८ यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। तैत्ति० १।११।२
९ यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति। छांदो० ७।२३।१
१० विद्ययाऽमृतमश्नुते। ईशा० ११।

संस्कृत के विद्वानों में इस प्रकार की उक्तियों का उसी प्रकार प्रचलन है जिस प्रकार लोकोक्तियों का सामान्य लोगों में। इस प्रकार की उक्तियाँ यदि कहावत कहला सकती हैं तो इन्हें एक विशिष्टवर्ग (प्राज्ञवर्ग) की कहावतें कहा जा सकता है।

---

६ कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। भवभूति

ख. लौकिक न्याय

किंतु उपनिषदों में यत्र तत्र दृष्टांतों के रूप में लौकिक न्यायों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ—

१. कीटभ्रमरन्यायेन मुक्तो भवति। ना. प. ५।५२

२. कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशमृतकन्यायेन परिव्राट्। ना. प. ५।१५।

मुंडकोपनिषद् १।२।८, मैत्रा ७।९ और कठोपनिषत् २।५ में 'अंधेनेव नीयमाना यथांधाः' इस कहावती उपमा का प्रयोग हुआ है। कबीर की निम्नलिखित साखी में आते आते इस उपमा ने एक कहावती उक्ति का रूप धारण कर लिया —

जा का गुरु भी अंधला, चेला खरा निरन्ध।
अन्धे अन्धा ठेलिया, दोनूं कूप पड़न्त॥

आनंदघनकृत अजीतनाथ स्तवन में भी इस न्याय का प्रयोग हुआ है —

"पुरुष परस्पर अनुभव जोइये, अन्धो अन्ध भुलाय।
वस्तु विचारे जो आगम करि, चरण धरण नहीं ठाय॥"

उपनिषद्कार की निम्नलिखित उक्ति अर्थतः कहावत कही जा सकती है:

"एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वकार्ष्णायं संविज्ञातं।" पंचब्रह्मोपनिषत्, ३०

इसको पढ़ते ही राजस्थानी कहावत "नाई री परख नख में, रसोई री पापड़ में" का अनायास स्मरण हो आता है।

ग—कहावती उपमाएँ

उपनिषदों में कुछ इस प्रकार की उपमाएँ हैं जिन्हें एक प्रकार से कहावती उपमा कहा जा सकता है। इस प्रकार की उपमाओं में स्वतंत्र रूप से कहावत बन सकने का सामर्थ्य विद्यमान रहता है। जैसे,

" अधीत्य चतुरो वेदान्सर्वशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥ "

"दर्वीपाकरसं यथा" के स्थान पर यदि कहा जाय कि "कुरछी के जाणे भोजन को स्वाद, ?" तो यह निश्चित रूप से कहावती आकारप्रकार की ही एक महत्वपूर्ण उक्ति का रूप धारण कर लेगी।

"चिदानंद पद-संग्रह" में यह कहावती उपमा लोकोक्ति के रूप में ही प्रयुक्त हुई है।

"रस भाजन में रहत दर्वी नित।
नहिं तस रस पहिचान॥"

घ. आभाणक

"काल करे सो आज कर" एक कहावती वाक्य है। उपनिषत्कार की भी एक ऐसी ही उक्ति उपलब्ध होती है "अद्यैव कुरु यच्छ्रेयः।" भव सं० १।३९ "हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः।" जा० द० ४।५८ को पढ़कर इसके समकक्ष अनेक लोकोक्तियों का स्मरण हो जाता है। "लौकिक न्यायांजलि" में "पिंडमुत्सृज्य करं लेढि" न्याय इसी प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है मधुर पिंड को छोड़कर हाथ चाटता है। रघुनाथवर्मन् के 'लौकिक न्यायरत्नाकर' में उक्त न्याय का 'पिण्डं हित्वा करं लेढि' यह रूपांतर प्राप्त होता है। पंचपादिका पृष्ठ ४९ में इस न्याय को "आभाणक" शब्द द्वारा अभिहित किया गया है "सोऽयमाभाणको लोके पिण्डमुत्सृज्य करं लेढीति।" "क्षीरं विहायारोचकग्रस्तः सौवीररुचिमनुभवति"[७] जैसी उक्तियाँ इसके समानांतर रखी जा सकती हैं।

ङ—कहावती वेशभूषा

इसी प्रकार निम्नलिखित उक्तियों को विचारार्थ लीजिये —

१ — आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत्।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते॥ जा० द० ४।५०

इस पद्य के उत्तरार्द्ध को यदि 'हाथ रो रतना छोडै र काच ढूँढै' में बदल दिया जाय तो कौन इसे कहावत नहीं कहेगा?

२—पिपीलिकायां लग्नायां कण्डूस्तत्र प्रवर्तते। यो० शि० १।११४
३—प्रीतिः प्रीत्या भवति। सामर० ६५[८]
४—मृतस्य मरणं कुतः। यो० शि० १।४५
५—मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे॥ मैत्रे० २।११

---

७ लौकिकन्यायाञ्जलिः, द्वितीयो भागः। Colonol G. A. Jacob. p. 47

८ cf. Love begets love.

६—यथा पक्षिगणो रात्रौ तरुमाश्रित्य तिष्ठति ।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः ॥ भव० सं० १।१२ [९]

७—रिपुणा हन्यते रिपुः । महो० ५।१११

८—आयुरायासकारणम् । महो० ३।१० [१०]

जिस प्रकार कहावतों में कभी कभी असंभव घटनाएँ रखी जाती हैं, उसी प्रकार उपनिषदों में भी इस प्रकार का वाक्यविन्यास देखा जाता है। उदाहरणार्थ—

१—काको वा हंसवद्गच्छेत् जगद्भवतु निश्चलम् । ते० वि० ६।९२ ।[११]

२—नपुंसककुमारस्य स्त्रीसुखं चेदभवेज्जगत् ।
निर्मितः शशशृंगेण रथश्चेज्जगदस्ति तत् ॥ ते० विं० ६।९८ ।

घ—निष्कर्ष

ऊपर जिन उपनिषदों से उदाहरण दिये गये हैं, वे प्रायः परवर्ती उपनिषद् हैं, पूर्ववर्ती नहीं। पूर्ववर्ती उपनिषदों में यदि लोकोक्तियों का बाहुल्य न हो तो आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, लोकोक्ति घटना को लेकर चलती है जब कि दार्शनिक ग्रंथ चिंतनमनन पर आश्रित रहते हैं। उपनिषद् जैसे ग्रंथों में से यदि सूक्तियाँ अथवा प्राज्ञोक्तियाँ एकत्र की जायँ तो अनायास एकत्र की जा सकती हैं किंतु उपनिषदों में प्रयुक्त लोकोक्तियों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती तथापि समझाने के लिए न्याय, दृष्टांत, उदाहरण आदि का जहाँ प्रयोग करना पड़ता है, वहाँ ऐसी उक्तियाँ व्यवहार में लानी पड़ती हैं जो लोकसामान्य हों। कबीर जैसे दार्शनिक ने भी लोक के सामान्य अनुभवों के सहारे दार्शनिक सिद्धांतों को बहुत सीधे ढंग से समझा दिया था।

फिर भी इतना निःसंदेह कहा जा सकता है कि उपनिषद् काल में भी कहावतों जैसी वस्तु प्रचलित अवश्य थी चाहे शास्त्रीय एवं दार्शनिक ग्रंथों में कहावतों का बाहुल्य न मिलता हो।

---

९ मिलाइये : "चिड़िया रैन बसेरा।"

१० मिलाइये : "जब तक जीना तब तक सीना।"

११ "कागा हंसा-चाल चलि भूलै अपनी चाल"। संपादक

इतिहास और पुराणों की कहावतें

इस शीर्षक के अंतर्गत रामायण, महाभारत, योगवाशिष्ठ तथा पुराणों की कहावतों पर विचार किया गया है। रामायण और महाभारत तो हमारे यहाँ इतिहास ग्रंथ माने ही जाते हैं, योगवाशिष्ठ को भी लोग वाल्मीकि रामायण का उत्तर खंड मानते हैं और उसे वाशिष्ठ रामायण भी कहते हैं। यही कारण है कि इस ग्रंथ की कहावतों को भी मैंने रामायणमहाभारत की कहावतों के साथ ही रखना उचित समझा है।

१—रामायण की कहावतें

रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के दो नेत्र हैं। वेदों के बाद आदि कवि की रामायण का सर्वाधिक महत्व है। मानवजीवन के विविध प्रसंगों तथा तत्कालीन समाज का अच्छा चित्रण इस महाकाव्य में हुआ है। रामायण सूक्तियों का भंडार तो है ही, इसमें स्थानस्थान पर अनेक लौकिक प्रवादों का भी उल्लेख हुआ है। यथा,

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः॥ ११६।३४

अर्थात् मनुष्य पिता के स्वभाव का अनुकरण न कर माता के स्वभाव का अनुसरण करता है, इस लोकप्रवाद को भरत ने असत्य सिद्ध कर दिया, क्योंकि भरत कैकेयी के पीछे नहीं गये। इस संबंध में राजस्थानी की निम्नलिखित कहावत उल्लेखनीय है :

"मा पर पूत पिता पर घोड़ो, घणो नहीं तो थोड़म-थोड़ो।"

अर्थात् पुत्र माता का अनुसरण करता है, घोड़ा पिता का। यदि बहुत नहीं तो थोड़ी बहुत अनुरूपता तो देखी ही जाती है।

यह कहावत राजस्थान में ही नहीं, यत्किंचित रूपांतर के साथ भारतवर्ष के बहुत से अन्य प्रांतों में भी प्रचलित है। इस कहावत का मूल वाल्मीकि रामायण के उक्त लोकप्रवाद में मिल जाता है।

इसी प्रकार एक दूसरी राजस्थानी कहावत है "मा गैल डीकरी, घड़ा गैल ठीकरी" अर्थात् लड़की माँ के अनुरूप होती है और घड़े के खंडित टुकड़े घड़े के अनुरूप। एक ऐसी ही कहावत वाल्मीकि रामायण में भी मिलती है —

सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मे।
पितृन्समनुजायन्ते नरा मातरमंगनाः ॥ २।३५।२८

सुमंत्र की कैकेयी के प्रति उक्ति है कि यह लौकिक प्रवाद मुझे सत्य जान पड़ता है कि पुरुष पिता का अनुसरण करते हैं और स्त्रियाँ अपनी माता का। यह तुम्हारे आचरण से ही प्रकट है। 'न बाप को है पड़ती कुमारिका' इसी प्रकार की उक्ति प्रियप्रवासकार की भी है। एक मराठी लोकोक्ति में भी कहा गया है —

"खाण तशी माती व जाती तशी पोती।"

किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती, इस तरह की कोई लोकोक्ति रामायण-काल में प्रचलित रही होगी, तभी तो आदि कवि ने कहा है —

सत्यं चेतेदं प्रवदन्ति लोके, नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः ॥ ५.२८।३

ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ॥ २।२०।५१।

इसी प्रकार हनूमान ने आत्महत्या न करने का निश्चय करते हुए कहा था—

"जीवन्भद्राणि पश्यति।"

राजस्थानी भाषा के सुकवि समयसुंदर ने भी अपने "सीताराम चौपाई" नामक ग्रंथ में लिखा है —

"जीवतां जीव कल्याण देखइ।"

यह पंक्ति "जीवन्भद्राणि पश्यति" का ही अनुवाद जान पड़ती है।

वाल्मीकि रामायण में जहाँ प्रवाद आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है, वहाँ भी अनेक ऐसी उक्तियाँ हैं जिन्हें निश्चयात्मक रूप से "लोकोक्ति" की संज्ञा दी जा सकती है। उदाहरण के लिए "अहिरेव अहेः पादान्विजानाति न संशयः" ५।४२।९ को लीजिये। यह रामचरित मानस की "खग जाने खग ही की भाषा' इस उक्ति के समानांतर रखी जा सकती है। उसी प्रकार की अन्य कहावतें नीचे उद्धृत की जा रही हैं —

१—आम्रं छित्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु कः।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥ २।३५।१६।[१२]

---

१२ कश्चिदाम्रवनं छित्वा पलाशांश्च निषिञ्चति।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे ॥ २।६३।८।
सींचै पेड़ बबूल का आम कहाँ से खाय (संपादक)

अर्थात् आम के पेड़ को कुठार से काटकर नीम की परिचर्या कौन करे? नीम को दूध से सींचने पर भी यह मीठा नहीं होता।

इस प्रसंग में राजस्थानी की निम्नलिखित उक्ति उल्लेखनीय है —

"नीम न मीठो होय, सींचो गुड़ अर घीव सैं।
जिसका पड्या सुभाव क जासी जीव सैं॥"

इसी प्रकार रामायण की एक दूसरी उक्ति में कहा गया है "न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः।"

"गर्जन्ति न वृथा शूरा निर्जला एव तोयदाः॥ ६।६५।३" रामायण की इस उक्ति को पढ़कर "गरजै जिको बरसै कोनी" का अनायास स्मरण हो जाता है।

"To err is human." यह अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध कहावत है जिसका मूल रूप रामायण में सुरक्षित है। 'न कश्चिन्नापराध्यति॥ ४।३६।११' का भाव उक्त अंग्रेजी लोकोक्ति से ठीक मिलता जुलता है।

'यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते'॥ ७।४३।१६ और 'यथा राजा तथा प्रजा' दोनों में एक ही बात कही गई है। 'गतोदके सेतुबंधो न कल्याणि विधीयते' २।६५४। यः परः पर एव सः ६।८७।१५। नाग्निरग्नौ प्रवर्तते ५।५५।२२, दृश्यमाने भवेत्प्रीतिः ५।२६।३६। स्वभावो दुरतिक्रमः ६।३६।११, धिगस्तु परवश्यताम् ५।२५।२०, मरणांतानि वैराणि ६।१११।२५, मृदुर्हि परिभूयते २।२१।११, शोकश्च तिल कालेन गच्छता ह्यपगच्छति ६।५।४। संपृष्टेन तु वक्तव्यम् ३।३४०।६, पतनांताः समुच्छ्रयाः ७।५२।११, अप्रियस्य च सत्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ६।२७।२, अनिर्वेदः श्रियो मूलम् ५।१२।१० आदि अनेक लोकोक्तियां रामायण से आकलित की जा सकती हैं।

रामायण में भी लोकप्रवाद के रूप में जिन उक्तियों का उल्लेख हुआ है, उनकी प्राचीनता के संबंध में हम निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकते। 'गतोदके सेतुबंधः' तथा 'यथा राजा तथा प्रजा' आदि अनेक उक्तियाँ ऐसी हैं जो रामायण तथा महाभारत दोनों में समान रूप से उपलब्ध हैं।

बहुत सी कहावतें ऐसी हैं जो भारतवर्ष की प्रायः सभी प्रांतीय भाषाओं में मिलती हैं। उनके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि एक भाषा ने किसी दूसरी भाषा से कहावतें ग्रहण की हैं। तथ्य यह है कि इस प्रकार की लोकोक्तियाँ देश

की सर्वसामान्य संपदा के रूप में महाकाव्यों के भी युग से पहले प्रचलित रही हैं और देशवासियों के आचारव्यवहार को प्रभावित करती रही हैं।

२—महाभारत की कहावतें

जिस प्रकार भगवान समुद्र और पर्वतराज हिमालय रत्ननिधि के रूप में प्रसिद्ध हैं, कुछ वैसी ही महिमा महाभारत की भी है। एक ओर अठारह पुराण, सब धर्मशास्त्र तथा वेद वेदांग और दूसरी ओर अकेला यह महाग्रंथ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से संबंध रखनेवाला जो ज्ञान इसमें है, वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं वह और कहीं भी नहीं।[13] यह भारतीय संस्कृति का एक महान् विश्वकोश है। सब प्रकार के कथाप्रसंगों को लेकर विराट् जीवन का सर्वांगीण चित्र इस महाग्रंथ में उपस्थित किया गया है। महाभारत में स्थानस्थान पर प्रयुक्त सभी सूक्तियों और लोकोक्तियों का विवेचन करना दुःसाहस मात्र होगा, इसलिए यहाँ पर उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है। इस ग्रंथरत्न में प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियों के उदाहरण लीजिये—

१—सेनापतौ यशो गन्ता, न तु योधान्कथंचन ॥ ५।१६८।२८।

लड़ते योद्धा हैं किंतु यश सेनापति को मिलता है। ठीक इसी आशय को व्यक्त करने वाली राजस्थानी कहावत है "मरै सिपाही अर नाम होय सिरदार रो" अर्थात् मरते सिपाही हैं और नाम होता है सरदार का।

२—यथा राजन् हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्वोद्भवानि ॥ १२।६३।२५।

'हाथी के खोज में सबका खोज समावै" राजस्थान की एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है, और राजस्थान की ही क्यों, मराठी आदि प्रांतीय भाषाओं में भी "सगल्यां ची पावलें हतीच्या पावलांत" जैसी कहावतें सुनाई पड़ती हैं। इन सब का मूल महाभारत के उक्त कहावती वाक्य में ढूँढ़ा जा सकता है।

---

१३. यथा समुद्रो भगवान् यथा हि हिमवान् गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ १८।५।६५।
अष्टादश पुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः।
वेदाः सांगास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम् ॥ १८।५।४६।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥ १।६२।५३।

३—सर्वो हि मन्यते लोक आत्मानं बुद्धिमत्तरम् ॥ १०।३।४ ।

प्रत्येक मनुष्य अपने आपको दूसरे की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् समझता है ।

इससे मिलती जुलती दो राजस्थानी कहावतें लीजिये—

क. अकल दुनिया में ड्योढ है एक आप में, आधी दुनिया में ।

ख. परायो धन अर आप में अक्कल ज्यादा दीखै ।

४—तदेवासनमन्विछ्यत्र नाभिपतेत् परः ४।२।१३ ।

इसी अर्थ को प्रकट करने वाली राजस्थानी भाषा की एक समानांतर लोकोक्ति में कहा गया है 'बैठे जोय, उठावै न कोय।' अर्थात् सभा में जहाँ बैठना हो, वहाँ पहले से ही अपना स्थान देखकर बैठना चाहिए ताकि फिर वहाँ से कोई उठा न सके ।

५—पिबन्त्येवोदकं गावो मन्डूकेषु रुवत्स्वपि ॥ १२।१४१।८२ ।

मेंढकों के टर्र टर्र करते रहने पर भी गायें तो पानी पीती ही हैं । राजस्थानी भाषा में शब्दसाम्य की दृष्टि से तो ऐसी कोई कहावत मेरे पढ़ने सुनने में नहीं आई किंतु भावसाम्य का जहाँ तक संबंध है निम्नलिखित कहावत इस प्रसंग में अवश्य उल्लेख योग्य है—

"अयां ही रांडां रोसी" र अयां ही पावणा जीमसी ।"

तात्पर्य यह है कि झींखनेवाले यों ही झींखते रहेंगे, मौज उड़ाने वाले तो मौज ही उड़ायेंगे।

६—"कादा नै छेड़ै, छाँटा पड़ै" एक प्रसिद्ध राजस्थानी लोकोक्ति है जिसका अर्थ यह है कि कीचड़ को छेड़ने से छींटे ही उछलते हैं । महाभारत में इसी का प्रतिरूप निम्नलिखित रूप में उपलब्ध है—

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ॥ ३।२।४९ ।

७— संदीप्ते भवने यद्वत् कूपस्य खननं तथा ६।४६।२३ । यह तो एक ऐसी उक्ति है जो भारतवर्ष की प्रायः सभी प्रांतीय भाषाओं में मिलती है ।

३—योगवाशिष्ठ की कहावतें

योगवाशिष्ठ वेदांतशास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जो वशिष्ठजी[१४] द्वारा रचित कहा जाता है । इसमें वशिष्ठ जी ने रामचंद्र को वेदांत का उपदेश दिया है।

१४. योगवाशिष्ठ के कर्ता महर्षि वाल्मीकि भी माने जाते हैं ।—संपादक ।

६ प्रकरणों और ३२ हजार श्लोकों में यह ग्रंथ समाप्त हुआ है। स्थानस्थान पर कहावतों के प्रयोग की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है यद्यपि सूक्तियों की संख्या कहावतों से कहीं अधिक है। योगवाशिष्ठ की कुछ कहावतें लीजिये —

१. तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः।
   क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥ ६ उ० १६३।५६।
२. अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥ ६ उ० ६७।२८।
३. उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥ ६ उ० १६३।६।
४. न हि पीतामृतायान्तः स्वदते कटु कांजिकम् ॥ ६ उ० ४५।४०।
५. उह्यन्ते वारणा यत्र तत्रोर्णायुषु का कथा। ६ उ०। ६८।३७।[14]
६. कपर्दिकार्धलाभेन कृपणो बहु मन्यते ॥ ३।७०।७७।
७. यावत्तिलं तथा तैलम् ॥ ६।१०४।४२।[15]
८. न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादंकुरः कुतः ॥ ६।९४।६२।
९. यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृन्तच्युतं फलम् ॥ ६ उ० १२५।३२।

अर्थात् यह हमारे पिता का कुआ है, ऐसा कहते हुए कापुरुष लोग खारा जल पीते हैं। किसी को नीम अच्छा लगता है तो किसी को मधु। जिसके पैर में जूते हैं उसे समस्त पृथ्वी ही चमड़े से ढकी हुई जान पड़ती है। जिसने अमृत पी लिया है, उसे कड़वी कांजी अच्छी नहीं लगती। जहाँ बड़े बड़े हाथी डूब जाते हैं वहाँ भेड़ों की क्या बिसात? कृपण को यदि फूटी कौड़ी भी मिल जाती है तो भी वह उसे बहुत करके मानता है। जब तक तिल हैं तभी तक तेल है। जहाँ बीज ही नहीं, वहां अंकुर कैसा? जो फल शाखा से अलग हो चुका, उसे यत्न करके भी फिर वहीं कौन लगा सकता है?[16]

"सतां साप्तपदं मैत्रम्" ६ उ० २१६।४, 'अद्यैव कुरु यच्छ्रेयः' ६ उ. १६२।२० आदि अनेक ऐसी उक्तियाँ भी योगवाशिष्ठ में मिलती हैं जो समान रूप से रामायण,

---

१४ मिलाइये—हिन्दी — बड़े बड़े बह गए गदहा पूछै कितना पानी।—संपादक।
The elephant and the horse are drowned and the ass asks if there is much water. (Punjabi Proverb.)

१५ तेल तो तिलां सें ही नीकलै, (राजस्थानी लोकोक्ति)।

१६ बिरछ तें ज्यो पात टूटे बहुरि न लागै डार (मीरां)।

महाभारत तथा पुराणों में प्रयुक्त हुई हैं। योगवाशिष्ठ यद्यपि वेदांत का ग्रंथ है किंतु इसमें भी लौकिक व्यवहार का उल्लंघन न करने का उपदेश दिया गया है। "लोकस्थितिरलङ्घ्या हि महतामपि मानद।" ५।६५।३० संस्कृत की एक अन्य लोकोक्ति में भी यही बात द्विरुक्तिपूर्वक कही गई है :

"यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं नाचरणीयम् नाचरणीयम्।"

४—*पुराणों की कहावतें*

भारतवर्ष की व्यावहारिक और दार्शनिक जीवनपद्धति को प्रभावित करने में पुराणों का बहुत कुछ हाथ रहा है। पुराणों का नीतिसाहित्य बहुत व्यापक और विशाल है। जीवन के सभी अंग उपांगों से संबंध रखनेवाली सूक्तियाँ उनमें उपलब्ध हैं। बहुत सी सूक्तियाँ तो ऐसी हैं जिन्हें हम मानवता के नैतिक कोड (कानूनसंग्रह) के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इस देश में प्राचीनकाल से ही सुभाषितों और सूक्तियों को बहुत अधिक महत्व दिया जाता रहा है। विष्णु पुराण से पता चलता है कि प्रह्लाद को पहले पहल सुभाषितों की ही शिक्षा दी गई थी।

सुभाषितों के साथसाथ ऐसी उक्तियों का भी पुराणों में अभाव नहीं है जो कहावतों की भाँति प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित उक्तियों को लीजिये—

१. सतां साप्तपदं मैत्रम्॥ ३६॥ स्कांद, प्रभासखंड।

अर्थात् सात कदम साथ चलने से सज्जनों में परस्पर मित्रता हो जाती है।

२. सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः।[१७]

अर्थात् जो पेड़ सीधे होते हैं वे काट दिये जाते हैं, जो बाँके टेढ़े होते हैं, वे खड़े रहते हैं।

३. दैवं हि दुरतिक्रमम्। पद्म० सर्ग खंड. अ. २२. ७.

४. आपत्काले नृणां नूनं मरणं नैव लभ्यते। स्कांद, ब्रह्मखंड, सेतुमाहात्म्य. अ. ५. ११७.

५. यथा कृतं तथा भुंक्ते। पद्म. भूमिखंड अ. ८१।४४.

---

१७ Puranic words of wisdom.
(Collected and Edited by A. P. Karmarkar, p. 21.)

६. यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा शुभाशुभं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ पद्म, भूमिखंड अ. ८१।४७.

७. प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं वारयितुं न शक्तः ।
अतो न शोचामि न विस्मयो मे, ललाटलेखा न पुनः प्रयाति ॥[१८]

भाग्य और कर्मसंबंधी उक्तियों की प्रचुरता समूचे भारतीय साहित्य में देखने को मिलती है।

८. ज्येष्ठः पितृसमो भ्राता ।[१९]

अर्थात् बड़ा भाई पिता के समान होता है।

९. उपानद्‌गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः । स्कांद, प्रभासखंड अ. २५५।३२ ।

अर्थात् जिसने पैर में जूता पहन रखा है उसकी दृष्टि में समस्त पृथ्वी चमड़े से ढकी हुई है।

१०. सर्वस्य विद्यते प्रांतो न वांछायाः कथंचन । स्कांद, नागरखंड अ. १८४।४०

अर्थात् सबका प्रांत होता है, लेकिन इच्छा का कोई प्रांत नहीं होता।

ऊपर जो दस उक्तियाँ दी गई हैं, वे या तो प्राज्ञोक्तियों के अंतर्गत हैं या लोकोक्तियों के।

पुराणों में कुछ उक्तियाँ ऐसी भी हैं जिनकी समस्त लोकोक्तियाँ राजस्थानी भाषा में आज भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए 'आहारे व्योहारे लज्जा न कारे' राजस्थान में कहावत की भाँति प्रचलित है। वास्तव में यह किसी संस्कृत सूक्ति का ही लोकोच्चरित रूप है। इस आशय की संस्कृत सूक्तियाँ पुराणों में मिलती हैं जिनमें से दो यहाँ उद्‌धृत की जा रही हैं :

१. स्त्रीसंगमे तथा गीते द्यूते व्याख्यानसंगमे
व्यवहारे तथाहारे स्वर्थानां च समागमे
आये व्यये तथा नित्यं त्यक्तलज्जस्तु वै भवेत्। लिंगपुराण, पूर्व भाग,
अ० ३५।६०।६१ ।

२. आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सदा भवेत् ।[२०]

---

१८. Puranic words of wisdom.
(Collected and Edited by A. P. Karmarkar. p. 37.)

१९. वही पृष्ठ ४१ । २०. वही पृष्ठ १० ।

"पुरुषाणामलाभेन नारी चैव पतिव्रता"[21] अर्थात् पुरुषों के न मिलने पर नारी पतिव्रता कहलाती है। इसी प्रकार एक राजस्थानी लोकोक्ति में कहा गया है "अणमिले का से जती हैं" अर्थात् विषयभोग न मिलने पर ब्रह्मचर्य पालन स्वयं हो जाता है।

भागवत ११ स्कंध, अ० २३ के एक श्लोक में कहा गया है "न तथा तप्यते विद्धः, पुमान्बाणैः सुमर्मगैः, यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः।"

निम्नलिखित राजस्थानी सूक्ति और कहावत में भी यही बात प्रकारांतर से कही गई है :

१. "लोह तणी तलवार न लागै जीभ तणी तलवार जिसी"

अर्थात् लोहे की बनी तलवार का प्रभाव भी उतना तीक्ष्ण नहीं होता जितना जीभ की तलवार का होता है।

२. 'घोड़े की लात, आदमी की बात' में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

भागवत की एक अन्य कहावत में कहा गया है —

जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भिः तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥ ११।२३।५१

यदि कोई दांतों से जिह्वा को काटे तो किस पर क्रोध किया जाय ? दाँतों पर क्रोध करने में दूसरी पीड़ा आ खड़ी होगी।

इस प्रसंग में राजस्थान में प्रचलित दाँत और जीभ का निम्नलिखित कहावती वार्तालाप पठनीय है —

"दाँत और जीभ आपस में बोल्या। जीभ कह्यो—भाई, मेरबानी राखज्यो, चाब मत न्हांकज्यो। दाँत बोल्या—थूं निचली रीज्ये, तुड़ा मत न्हांकज्ये।"

अर्थात् दाँत और जीभ ने आपस में बातचीत की। जीभ ने कहा भाई, कृपा बनाये रखना, कहीं चबा न डालना। दाँत ने उत्तर दिया—तुम चंचलता न दिखलाना, कहीं ऐसा न हो कि हमें तुड़वा डाले।

पुराणों से कुछ कहावतों के उदाहरण और दिये जा रहे हैं —

१. "महाजनो येन गतः स पन्थाः।" पृष्ठ ५०

२. काकोऽपि जीवति चिरं च बलिं च भुंक्ते। पृ० ५२

३. स्वस्थे चित्ते धातवः संभवन्ति। पृष्ठ ५४।

४. कण्टकेनैव कंटकम्। पृष्ठ ५६।

---

२१. वही पृष्ठ ६।

५. स्वः कार्यमद्य कुर्वीत। स्कांद, नागरखंड, अ. २६, १८। ८।

६. नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्। पद्म, पातालखंड, अ. ११०।१८।

७. बुद्धिर्यस्य बलं तस्य। शिव० रुद्रसंहिता, खंड ४, अ. २१६।५२।

८. न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्। भागवत १०, अ. ५०।२०।

९. न हि चूडामणिः पादे शोभते वै कदाचन। पृष्ठ ६३।

१०. षट्कर्णो भिद्यते मंत्रः। पृष्ठ ६५।

११. तृणैरावेष्टिता रज्जुस्तया नागोऽपि बध्यते। पृष्ठ ६५।

१२. अनायके न वस्तव्यं। पृष्ठ ६७।

१३. बालस्य रुदितं बलं। पृष्ठ ६६।

१४. पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। पृष्ठ ६६।

१५. मरणान्तं हि जीवितम्। पृष्ठ ६६।

१६. स्थानस्थितानि पूज्यन्ते पूज्यन्ते च पदस्थिताः।
स्थानभ्रष्टा न पूज्यन्ते केशा दन्ता नखा नराः। पृष्ठ ६७।

१७. सरोजिनीगुणं वेत्ति भृंग एव न दर्दुरः। पृष्ठ २२।

१८. स रावणः कालवशाद्विनष्टः। पृष्ठ ३७।[२२]

१९. वसिष्ठकृतलग्नाऽपि जानकी दुःखभाजनम्। पृष्ठ ३७।

२०. न पितुः कर्मणा पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा।
स्वयं कृतेन गच्छन्ति स्वयं बद्धाः स्वकर्मणा। पृष्ठ ३७।

राजस्थान में भी एक ऐसी ही कहावत है "करणी भोगै आपकी के बेटो के बाप।"

कहावतों में जैसे वस्तुपरिगणन की प्रवृत्ति देखी जाती है, वैसी अनेक पौराणिक सूक्तियों में भी मिलती है। उदाहरण के लिए एक उक्ति यहां दी जा रही है —

शनैर्विद्या शनैरर्थाः शनैः पर्वतमारुहेत्।
शनैः कामं च धर्मं च पञ्चैतानि शनैः शनैः॥ पृष्ठ ६२।[२३]

---

२२ "एक लखपूत सवालाख नाती, ता रावण घर दिया न बाती।"

२३ टिप्पणी — पृष्ठ संख्या "Puranic words of wisdom." से दी गई है।

स्मृतियों की कहावतें

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, स्मृतियाँ पहले स्मृति में ही स्थित रही होंगी, बाद में इन्होंने लिखित रूप धारण कर लिया होगा। स्मृतियाँ कुल कितनी हैं, नहीं कह सकते, किसी किसी ने तो उनकी संख्या १५२ तक मानी है। किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय में मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य आदि १८ प्रसिद्ध स्मृतिकारों के नामों का उल्लेख हुआ है। स्मृतियों में आचारव्यवहार का वर्णन होने के कारण स्थान स्थान पर प्राज्ञोक्तियों तथा लोकोक्तियों का मिलना अत्यंत स्वाभाविक है। कुछ स्मृतियों से उदाहरण लीजिये —

१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। मनुस्मृति ३।५६।

२. मनः पूतं समाचरेत्। मनु० ६।४६।

३. बालादपि सुभाषितम्। मनु० २।२३९।

४. स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि। मनु० २।२३८।

मनुस्मृति के श्लोक "न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ २।१५६।

का पूर्वार्द्ध "न तेन थेरो सो होति येनस्स पलितं सिरो" धम्मपद २।६० में भी प्राप्त होता है। महाभारत में भी किंचित् रूपान्तर के साथ यही श्लोक मिलता है। इससे स्पष्ट है कि दीर्घकाल तक यह उक्ति भारतवर्ष में बहुप्रचलित रही होगी।

सोमदेव के "नीतिवाक्यामृतम्" में अनेक स्मृतिकारों की कहावतों का उल्लेख हुआ है। यथा,

१. गुडास्वादनतः शक्तिर्यदि गात्रस्य जायते।
आरोग्यलक्षणा नाम तद्भक्षयति को विषम्॥ हारीत।

२. ऋजुः सर्वं च लभते न वक्रोऽथ पराभवं।
यथा च सरलो वृक्षः सुखं छिद्यते छेदकैः॥ बृहस्पति।[२५]

३. अन्धवर्तयमेवैतत् काकतालीयमेव च।
यन्मूर्खमंत्रतः सिद्धिः कथंचिदपि जायते॥ बृहस्पति।

---

२४ मिलाइये — "पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः किं तत्पटोलेन!" वल्लभदेवः

२५ मिलाइये — बाँका रहज्यो बालमा, बाँका आदर होय।
बाँकी बन में लाकड़ी, काट न सक्कै कोय॥

४. स्वामिनाधिष्ठितो भृत्यः परस्मादपि कातरः।
श्वापि सिंहायते यद्वन्निजं स्वामिनमाश्रितः॥ रैभ्य।[२६]

भारत की प्रांतीय भाषाओं में प्रचलित अनेक लोकोक्तियों के मूल रूप का पता लगाने तथा यह जानने के लिए कि हमारे देश का लोकोक्तिसाहित्य कितना संपन्न एवं समृद्ध है, स्मृतिग्रंथों का अध्ययन नितांत आवश्यक है।

नीति वाङ्मय और लोकोक्तियाँ

मनुष्यों का नैतिक आचरण किस प्रकार शुद्ध हो और वे अपने वैयक्तिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्कर्ष के लिए किस प्रकार व्यवहार करें, इन सबका निर्देश करने वाला साहित्य 'नीति वाङ्मय' के नाम से प्रसिद्ध है। भारत का नीतिवाङ्मय अन्य देशों की तुलना में अत्यंत समृद्ध है, यदि ऐसा कहा जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। यह वाङ्मय जहाँ एक ओर स्वतंत्र रूप से लिखे हुए नीतिग्रंथों के रूप में उपलब्ध है, वहाँ दूसरी ओर रामायण महाभारत तथा पुराणादि ग्रंथों में स्थानस्थान पर प्रयुक्त नीतिवचनों और सूक्तियों के रूप में प्राप्य है। रामायण तथा महाभारत में, विशेषतः महाभारत में, राजधर्म, गृहस्थधर्म, स्त्रीधर्म, राजनीति, व्यावहारिक कौशल तथा पारिवारिक धर्म आदि का सुंदर विवेचन आदर्श व्यक्तियों को सामने रखकर किया गया है। महाभारत के शांतिपर्व, उद्योगपर्व और वनपर्व इस दृष्टि से विशेष पठनीय हैं।

स्वतंत्र रूप से लिखे हुए नीतिग्रंथ भी दो प्रकार के हैं—एक तो वे जो सूत्ररूप में अथवा फुटकर पद्यों के रूप में लिखे गये हैं और दूसरे वे जिनमें पशुपक्षियों को लेकर कथाएँ कही गई हैं और उन्हीं के माध्यम से नीति की शिक्षा भी दी गई है। दूसरे प्रकार के ग्रंथ गद्यरचनाएँ हैं जिनके बीचबीच में नैतिक सूक्तियाँ और कहावतें मणिराजियों की भांति बिखरी पड़ी हैं।

प्रथम प्रकार के ग्रंथों में चाणक्यसूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र कामंदक का नीतिसार, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, बार्हस्पत्यनीति, शुक्रनीति, चाणक्यनीति तथा भर्तृहरि के शतकत्रय आदि विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। आगे चलकर सुभाषितों के अनेक उपयोगी संकलन निकले। सन् १३६३ में प्रसिद्ध विद्वान

२६. मिलाइये — "अपनी गली में कुत्ता शेर।"

शार्ङ्गधर द्वारा "शार्ङ्गधरपद्धति" नामक विशाल संकलन प्रस्तुत किया गया जिसमें ४६८९ पद्यों का अपूर्व संग्रह हुआ है। आधुनिक युग के ग्रंथों में काशीनाथ पांडुरंग द्वारा संकलित "सुभाषितरत्नभांडागार" नामक वृहत् संग्रह अत्यंत महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं, गत शताब्दी में सुविख्यात संस्कृतपंडित डा० बाथलिंक ने समस्त संस्कृत साहित्य से कोई ८००० उत्कृष्ट पद्यों को चुनकर अपने सुंदर गद्यानुवाद के साथ तीन खंडों में "Indische Spruche." नामक विशाल ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कराया। दूसरे प्रकार के नीतिग्रंथों में पंचतंत्र और हितोपदेश का नाम लिया जा सकता है।

उक्त दोनों प्रकार के नीतिग्रंथ सुभाषितों के तो भंडार हैं ही, किंतु लोकोक्तियोंक्तियों के प्रयोग की दृष्टि से भी इनका कम महत्व नहीं है। इन सब ग्रंथों में प्रयुक्त लोकोक्तियों की मीमांसा यहाँ संभव नहीं है। इसलिए प्रथम प्रकार के नीति ग्रंथों के प्रतिनिधिस्वरूप यहाँ चाणक्य सूत्र, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, चाणक्यनीति और सुभाषितरत्नभांडागार से कुछ लोकोक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं।

चाणक्यसूत्र

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'चाणक्य का रचा हुआ चाणक्यसूत्र नामक एक प्राचीन ग्रंथ आज भी उपलब्ध है जिसे कौटिल्य के व्यावहारिक नीतिज्ञान का मथा हुआ मक्खन ही कहना चाहिए।' इसके ५०१ सूत्रों में अनेक सूत्र लोकोक्ति शैली के हैं। जैसे,

१. बिना तपाए हुए लोहे से लोहा नहीं जुड़ता। नातप्तलोहं लोहेन संधत्ते।

२. बाघ भूखा होने पर भी घास नहीं खाता। न क्षुधार्तोऽपि सिंहस्तृणं चरति।

३. कलाल के हाथ में दूध का भी मान नहीं होता। शौण्डहस्तगं पयोऽप्यवमन्येत।

४. उधार के हजार से नकद की कौड़ी भली। श्वः सहस्रादद्य काकिनी श्रेयसी।[२७]

इसी कहावत का चाणक्य सूत्र में एक रूपांतर यह है —

श्वो मयूरादद्य कपोतो वरः। ४।५६। कल के मोर से आज का कबूतर अच्छा है।[२८]

२७. 'नौ नगद न तेरह उधार।'—संपादक। २८. भूमिका मेवाड़ की कहावतें। पृष्ठ २१।

कौटिल्य का अर्थ शास्त्र

जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारतीयों ने धर्म और मोक्ष को छोड़कर अन्य पुरुषार्थों की ओर ध्यान नहीं दिया, वे इस देशके प्राचीन साहित्य से परिचित नहीं जान पड़ते। चाणक्य का अर्थशास्त्र, कामंदक का नीतिसार तथा सोमदेवसूरि का नीतिवाक्यामृत आदि अनेक ग्रंथ हैं जिनमें अन्य पुरुषार्थों का भी तलस्पर्शी विवेचन हुआ है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र लोकोक्तियों के प्रयोग की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में मनु, भारद्वाज, उशना शुक्र, बृहस्पति, विशालाक्ष, पिशुन, पराशर, वातव्याधि कौणपदंत और बाहुदंतीपुत्र नामक प्राचीन आचार्यों के राजनीति-संबंधी मतों का जगह जगह उल्लेख आता है। आचार्य चाणक्य प्रारंभ में ही कहते हैं कि पृथ्वी के लाभ और पालन के लिए पूर्वाचार्यों ने जितने अर्थशास्त्र प्रस्थापित किये हैं, प्रायः उन सबका संग्रह करके यह अर्थशास्त्र लिखा गया है।

कौटिल्य का यह ग्रंथ सूत्रशैली में प्रायः गद्य में लिखा गया है। एक उदाहरण लीजिये —

'अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति बलीयानबलं ग्रसते दंडधराभावे।'"[२१]

चाणक्यनीति

१. नराणां नापितो धूर्तः, पक्षिणां चैव वायसः।
   चतुष्पदः शृगालस्तु, स्त्रीणां धूर्ता च मालिनी॥ ५।२१।
२. आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्। ७।२।
३. छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्। १०।१३।
४. आमूलसिक्तं पयसा घृतेन न निंबवृक्षो मधुरत्वमेति।
५. अति रूपेण वै सीता, अति गर्वेण रावणः।
   अति दानाद् बलिर्बद्धो ह्यति सर्वत्र वर्जयेत्॥ ३।१२।
६. अग्राह्यो भगिनीसुतः। ४।१०।
७. वचने किं दरिद्रता। १६।१७।

---

२१. मिलाइये अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं ग्रसते। इति मात्स्यन्यायः। नीतिवाक्यामृत सोमदेव सूरि।

सुभाषितरत्नभांडागार

१—अपि धन्वन्तरिवैद्यः किं करोति गतायुषि। २—अर्धो घटो घोषमुपैति नूनं। ३—किं मर्दितो पि कस्तूर्या लशुनो याति सौरभम्। ४—को न याति वशं लोके मुखे पिंडेन पूरितः। ५—कुण्डे कुण्डे नवं पयः। ६—गंतव्यं राजपथे। ७—चांडालः पक्षिणां काकः। ८—जामाता दशमो ग्रहः। ९—दर्दुरा यत्र वक्तारस्तत्र मौनं हि शोभनम्। १०—दुग्धधौतोपि किं याति वायसः कलहंसताम्। ११—दूरतः पर्वता रम्याः। १२—न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वह्निना गृहे। १३—न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया। १४—निर्वाणदीपे किमु तैलदानम्। १५—पंको हि नभसि क्षिप्तः क्षेप्तुः पतति मूर्धनि (कथा सरित्सागर)। १६—पयोगते किं खलु सेतुबन्धः। १७—बधिरान्मन्दकर्णः श्रेयान्। १८—शुभस्य शीघ्रम्। १९—स्वदेशजातस्य नरस्य नूनं गुणाधिकस्यापि भवेदवज्ञा। २०—श्यालको गृहनाशाय। २१—सर्वनाशाय मातुलः। २२—प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते। २३—बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा।

दूसरे प्रकार के नीति ग्रंथों में शीर्षस्थानीय है पंचतंत्र। यह ग्रंथ संस्कृत के नीतिसाहित्य का शृंगार है। विष्णुशर्मा ने इसकी रचना उस समय की थी जब उनकी अवस्था ८० वर्ष की थी और नीतिशास्त्र का परिपक्व अनुभव उन्हें प्राप्त हो चुका था। उन्होंने स्वयं कहा है 'मैंने इस शास्त्र की रचना का प्रयत्न अत्यंत बुद्धिपूर्वक किया है जिससे औरों का हित हो।' जिस समय उन्होंने यह ग्रंथ लिखा उनका मन सब प्रकार के इंद्रियभोगों से निवृत्त हो चुका था। इस प्रकार के इस विशुद्धबुद्धि, निर्मलचित्त ब्राह्मण ने मनु, बृहस्पति, शुक्र, पराशर, व्यास, चाणक्य आदि आचार्यों के राजशास्त्र और अर्थशास्त्रों को मथकर लोकहित के लिए पंचतंत्र रूपी यह नवनीत तैयार किया।[30]

इसमें पशु पक्षियों तथा मनुष्यों के काल्पनिक कथाभाग को लेकर सामान्य व्यवहार तथा नीतितत्त्वों का उपदेश दिया गया है। पंचतंत्र का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है, इसीसे इस ग्रंथ की महत्ता एवं लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस ग्रंथ की कुछ प्रसिद्ध कहावतें लीजिये—

---

३० पंचतंत्र आमुख डा० वासुदेव शरण अग्रवाल। पृष्ठ ६।

१. षट्कर्णो भिद्यते मंत्रः । १।११२ ।

२. छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति । २।१८८ ।

३. बुभुक्षितः किं न करोति पापम् । ४।१६ ।

४. दुष्टे दुष्टं समाचरेत् । ५।७० ।

५. मौनं सर्वार्थसाधनम् । ४।५१ ।

"एक हाथ से ताली नहीं बजती" इस लोकोक्ति का मूल "यथैकेन न हस्तेन तालिकः संप्रपद्यते" पंच० २।१३८ में मिल जाता है। राजस्थानी लोकोक्ति 'एकलो चणो के भाड़ फोड़ै' के साथ पंचतंत्र की निम्नलिखित कहावत को मिलाकर पढ़िये।

"उत्पतितो पि चणको भ्राष्टं भंक्तुं न शक्नोति" पंच० १।४८।

४—संस्कृत के काव्य और कहावतें

संस्कृत सुभाषितों के जो अनेक संग्रह प्रकाशित हुए उनमें कूटपथ, स्वभावादि-वर्णन, काव्यमय चमत्कार आदि सबका समावेश हुआ है किंतु हमें केवल उन सुभाषितों से तात्पर्य है जिनसे आधुनिक लोकोक्तियों के किन्हीं मूल रूपों का पता चलता है अथवा आकारप्रकार की दृष्टि से जिनकी गणना प्राज्ञोक्तियों अथवा लोकोक्तियों में की जा सकती है। इस संबंध में सर्वप्रथम कालिदास के ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। कवि-कुल गुरु की निम्नलिखित उक्तियां पठित समाज में कहावतों की भांति प्रचलित हैं—

१—स्नेहः पापशंकी। २—प्रसादचिह्नानि पुरः फलानि। ३—रत्नं समागच्छतु कांचनेन। ४—विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेत्। मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्। ६—तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते। ७—आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया। ८—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। ९—मनोरथानामगतिर्न विद्यते। १०—याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा। ११—नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

लोकोक्तियों के प्रयोग की दृष्टि से कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक का विशेष महत्त्व है। इस नाटक में प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियों के उदाहरण लीजिये—

१—हञ्जे णिउणिए सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणस्स विसेण मण्डणं त्ति। अवि सच्चो एसो लोहवाओ। तृतीय अंक।

निपुणिका—मैं बहुत सुना करती हूँ कि मदिरा पीने से स्त्रियाँ बहुत सुन्दर लगने लगती हैं। यह लोकवाद (कहावत) सच है क्या ?

२—कोसिणीए—अत्थि क्खु लोअप्पवादो आआमि सुहं दुक्खं वा हिअ असमवत्था कहेदि त्ति। पंचम अंक।

ज्योत्स्निका—यह लोकप्रवाद है कि अपना मन आगे आने वाले सुख या दुःख सभी बता देता है।

इस नाटक में जहाँ लोकवाद अथवा लोकप्रवाद शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है वहाँ भी स्थानस्थान पर कहावतों की अवतारणा की गई है। उदाहरणार्थ —

१—पन्धणब्भट्ठो गिहकवोदो विडालिआए आलोए पडिदो। चतुर्थ अंक।

पिंजड़े से छूटा हुआ कबूतर बिल्ली के सामने आ पड़ा।

२—दद्दुरा वाहरन्ति त्ति किं देवो पुहवीए वरिसिदुं विरनदि। चतुर्थ अंक।

पृथ्वी पर पानी बरसाने के लिए देव, मेंढकों की टर्र टर्र की बाट थोड़े ही जोहते हैं।

कालिदास के अनंतर बाण के हर्षचरित में से कुछ सूक्तियों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनमें कुछ प्राज्ञोक्तियाँ हैं और कुछ लोकोक्तियाँ —

१—अतिद्रुतवाहिनी चानित्यता नदी। २—उपयोगं तु प्रीतिर्न विचारयति। ३—औरसदर्शनं हि यौवनं शोकस्य। ४—गृहगतैरनुमन्तव्या एव लोकवृत्तयः। ५—को हि नाम सहते विरहमपत्यानाम्। ६—भव्या न द्विरुच्चारयन्ति वाचम्। ७—प्रतापसहाया हि सत्ववन्तः। ८—शुभागमो निमित्तेन स्पष्टमाख्यायते लोके। त्रियो हि दोषान्धतादयः कामला विकाराः। १०—स्त्रियो हि विषयाः शुचाम्।

सुभाषितों की दृष्टि से महाकवि भारवि का काव्य अत्यंत प्रसिद्ध है। "हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः" बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्" 'सहसा विदधीत न क्रियाम्।' अंतिम सुभाषित को लेकर तो अनेक कहानियाँ भी प्रायः सुनी जाती हैं।

हर्ष के नैषधचरित में भी 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' जैसे सुभाषितों का अभाव नहीं है।

सोमदेव के 'यशस्तिलक' में जिसकी रचना सन् ९५९ में हुई थी, कहावतों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। यथा,

१—दुग्धेन यः पोषयते भुजंगीं पुंसः कुतस्तस्य सुमंगलानि ।

२—अज्ञानभावादथवा प्रमादादुपेक्षणाद्वात्ययमाजि कार्ये ॥
पुंसः प्रयासो विफलः समस्तो गतोदके कः खलु सेतुबन्धः ।

३—जगत्प्रवाहेण तु वर्तितव्यं महाजनो येन गतः स पन्थाः । ४—नेत्रं हि दूरेऽपि निरीक्ष्यामाणमात्मावलोकेत्वसमर्थमेव । ५—सर्वत्र हे पुत्र न षड्ढलानि । ६—इतस्तटमितो व्याघ्रः केनास्तु प्राणिनो गतिः । ७—को नाम धीमांल्लवणाम्बुराशेरुपायनार्थं लवणं नयेत । ८—राजपरिगृहीतं तृणमपि कांचनीभवति । ९—शठं प्रतिशठन्यायेन । १०—अन्धकवर्तकीयम् । ११—को नाम शैलमारोहेदर्के लब्धमधुः सुधीः । १२—अस्ति च श्रेयांसि बहुविघ्नानि इति । विदुषां प्रवादः ।

हवाई द्वीपसमूह में आर्यसभ्यता के चिह्न

[श्रीमती सुशीला छाबड़ा, नई दिल्ली]

भारत में जो चिह्न हमें चाँदी की आहत मुद्राओं पर अंकित मिलते हैं वैसे ही बीसियों चिह्न हवाई द्वीपसमूह में चट्टानों पर उत्कीर्ण पाए जाते हैं। उनमें कई तो इतने पुराने हैं कि वे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं पर भी देखने में आते हैं। हवाई द्वीपसमूह प्रशान्त महासागर के मध्य में है और वह इस समय अमरीका के अधीन है। इस समूह में छोटे बड़े सब मिलाकर आठ द्वीप हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—नीहौ, कौअई, ओआहु, मोलोकै, लानै, माउइ, काहो ओलावे और हवाई (Nihau, Kauai, Oahu, Molokai, Lanai, Maui, Kaho-olawe and Hawaii)।[1] हवाई द्वीप सबसे बड़ा है। इसी कारण स्थानीय भाषा में इसे Big Island अर्थात् 'बड़ा द्वीप' भी कहते हैं। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार इसीपर समूचे द्वीपसमूह की संज्ञा भी हवाई ही पड़ गई है। प्रकृति की सुन्दरता में कौअई द्वीप सब से मनोहर है। इसलिए इसे Garden Island अर्थात् 'उपवनद्वीप' भी कहते हैं। ईख और अनानास इन द्वीपों पर बहुत होते हैं।

ये द्वीप ज्वालामुखी पर्वतों के लिए भी प्रसिद्ध हैं। बड़े द्वीप पर तो ज्वालामुखी का प्रकोप प्रायः रहता ही है। इस साल भी मार्च, अप्रैल और मई के महीनों में पूर्वी छोर पर भयंकर विस्फोट होते रहे हैं जिनमें तरल अग्नि के फव्वारे १५० फुट से भी अधिक ऊँचे उठते रहे और लावा अर्थात् तरल अग्नि के बहाव में कई गाँव और हरेभरे खेत, वन और उपवन स्वाहा हो गए। लावा की धाराओं का बहाव प्रशान्त महासागर की ओर ही होता है। महासागर के तट पर उस समय आग्नेयी और वारुणी शक्तियों का जो धुआँधार संघर्ष होता है वह देखते ही बनता है। भभकती आग की नदियाँ बुझतेबुझते भी कई जो

---

१. यह बात ध्यान में रखने की है कि हवाई द्वीपसमूह की भाषा हमारी प्राचीन प्राकृत भाषाओं के समान है। इसमें रेफ़ का सर्वथा अभाव है, स्वर बहुत हैं, व्यञ्जनों का प्रायः लोप हो जाता है। आजकल यहाँ के लोग रोमन लिपि का ही प्रयोग करते हैं।

गज सागर के अंदर घुस जाती हैं। महासागर को उन्हें बरबस जगह देनी ही पड़ती है। ज्वालामुखी के उद्‌गार जब शान्त हो जाते हैं तो बहती आग की नदियाँ भी मन्द पड़ जाती हैं। भूमि पर तो उन्हें ठंढा होने में सालों लग जाते हैं परन्तु पानी में वे अपेक्षाकृत जल्दी ही (सप्ताहों या महीनों में) ठंढी होकर पत्थर की चट्टानों में परिणत हो जाती हैं। महासागर के तट पर कहीं कहीं तो ये चट्टानें पानी की सतह से बहुत ऊँची खड़ी हैं, और कहीं कहीं महासागर की तरंगें इन पर थपेड़े मार रही हैं। भूमि पर भी लावा की बुझी हुई नदियों ने अनेक रूप धारण कर रखे हैं: कहीं कँटीले पत्थरों के टुकड़े हैं तो कहीं विशाल शिलापट्ट।

प्रकृति की यह लीला अनन्त काल से होती आ रही है। जहाँतहाँ महासागर के तट पर और तट से कुछ दूर लावा के ऐसे अति प्राचीन स्थण्डिलों पर कई प्रकार के चित्र खुदे मिलते हैं। उनमें रेखामय पुरुषचित्र एवं पशुचित्र अधिक संख्या में हैं। परन्तु उन्हीं के बीच कुछ विलक्षण चिह्न भी पाए जाते हैं जो हमारी आहत मुद्राओं पर उकेरे हुए चिह्नों से बहुत कुछ मिलतेजुलते हैं। इनके अध्ययन के लिए कौआई द्वीप की एक ऐतिहासिक संस्था ने मेरे पति डा० बहादुरचंद छाबड़ा को निमन्त्रित किया था। वे अभी अभी वहाँ से लौटे हैं और अपने साथ तद्विषयक बहुत सी सामग्री लाए हैं। नमूने के रूप में वहाँ के कुछ चिह्नों की छापों के फोटोचित्र[१] यहाँ दिए जाते हैं। इनमें सबसे पहिले तो भगवान् विष्णु का चक्र है। पाँच अरों वाले इस इस चक्र की विशेष संज्ञा है। *शक्तिमहाचक्र* (तद्वै शक्तिमहाचक्रं पञ्चारं परिकल्पितारं—अहिर्बुध्न्यसंहिता, पूर्वार्ध पृ० ७९)। उक्त शक्ति के पाँच अंग ही चक्र के पाँच अरे माने जाते हैं (अराणि पञ्च कृत्यानि शक्तेस्तस्याः प्रकल्पयेत्। तिरोभावं सृजिं चैव स्थितिं संहृत्यनुग्रहौ। वही पृ० ११५)। अगला चिह्न या तो पद्म है या षडरचक्र अर्थात् छः अरों वाला भगवान् विष्णु का या भगवान् सूर्य का चक्र है। सूर्य के रथ के चक्र में छः अरों की कल्पना वेदों में भी मिलती है। इस संबंध में छः अरे संवत्सर की छः ऋतुओंके द्योतक हैं। विष्णु के षडरचक्र का वर्णन अहिर्बुध्न्य संहिता जैसे आगम ग्रंथों में मिलता है। आगे और जो चिह्न दिखाए गए हैं उनमें त्रिपुण्ड्र, नन्दिपद आदि स्पष्ट ही हैं। त्रिपुण्ड्र ही बाद में ब्राह्मी लिपि का यकार अक्षर बना और ब्राह्मी का मकार नन्दिपद से संबद्ध है ही। शुद्ध मकार भी प्रतीकचिह्न (symbol) के रूप में मिलता है। यकार का पहुत

१. चित्र पृष्ठ २६३ पर देखिए।—संपादक

उस चिह्न से प्रतीत होता है जिसे कई विशेषज्ञों ने त्रिकोणध्वज (triangle-headed standard) की संज्ञा दी है। अर्धमण्डल, मण्डल, सबिन्दु मण्डल, मण्डलाधिमण्डल, बहुमण्डल भी जिनसे टकार, ठकार, थकार आदि अक्षरों का उद्भव माना जा सकता है हवाई के चिह्नों में अधिक संख्या में मिलते हैं। चित्र में दूसरी पंक्ति का अंतिम चिह्न हकार से मिलता जुलता है। ऐसा ही एक चिह्न(℧)मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर भी प्रायः मिलता है। हवाई में ब्राह्मी लिपि के लेख तो नहीं के बराबर ही समझने चाहिएँ। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के चिह्न ब्राह्मी लिपि के उद्गम से कुछ पहिले ही खोदे गए थे। आहत मुद्राओं पर जो हमें मत्स्य, सर्प, हर्मिका, सूर्य आदि के चिह्न मिलते हैं वैसे ही हवाई की चट्टानों पर भी मिलते हैं। इस समानता से क्या परिणाम निकाले जायँ यह विचारणीय है। हवाई चिह्न किसने बनाए, कब बनाए, कैसे बनाए इत्यादि प्रश्नों के उत्तर पूरी पूरी खोज के बाद ही दिए जा सकेंगे।
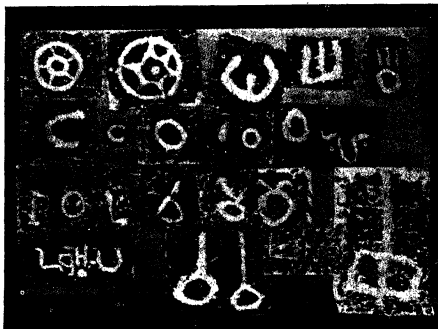
यहाँ इतना और बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि हवाई द्वीपसमूह में उक्त चिन्ह प्रायः सभी द्वीपों में चट्टानों पर खुदे मिलते हैं, परंतु बड़े द्वीप में तो अत्यधिक संख्या में पाए जाते हैं। वहाँ तो इनके विस्तृत क्षेत्र हैं — पश्चिमी तट पर, पूर्वी तट पर और दक्षिणी तट पर भी। वहाँ के विद्वानों ने प्रायः पुरुषाकृति-चिह्नों पर ही गवेषणा की है। प्रस्तुत चिह्नों को उन्होंने इतना महत्त्व नहीं दिया। इसी से इस ओर अबतक समुचित ध्यान नहीं दिया गया। हमारी दृष्टि से ये चिह्न बहुत ही महत्त्व के हैं और इनसे भारत के सांस्कृतिक इतिहास के कई अंधकाराच्छन्न स्थलों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

जैन आगम ग्रन्थों की महत्वपूर्ण शब्दसूचियाँ

[जगदीशचंद्र जैन]

भारतीय संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास तैयार करने के लिये जैन आगम ग्रन्थों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय इतिहास की सामग्री इन ग्रन्थों में यत्रतत्र बिखरी पड़ी हुई है। यहाँ आर्यअनार्य देश, रीतिरिवाज, दासदासी, पादत्राण, वस्त्र, आभरण, अलंकार, सुरा, उत्सव, धान्य, वाद्य, नाटक, आयुध, हाथी, घोड़े, रथ, लिपि, कला, महापुरुषलक्षण, शिल्प, विद्या, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि के संबंध में महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है जो अन्यत्र सुलभ नहीं है। अनेक स्थानों पर एक जैसे शब्दों की सूचियाँ दी हुई हैं जिनसे बहुत से विषयों का स्पष्टीकरण होता है। उदाहरण के लिये, ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, खेट, कर्बट, द्रोणमुख, पत्तन, मडंब, संवाध, आश्रम, विहार सन्निवेश, शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, पथ, महापथ, गणनायक, दंडनायक, राजा, ईश्वर, तलवर, माडंबिक, कौटुंबिक, इभ्य, श्रेष्ठि, सेनापति, सार्थवाह, मंत्री, महामंत्री, गणक, द्वौवारिक, अमात्य, चेट, पीठमर्द, दूत, संधिपाल, इन्द्रमह, स्कंदमह, मुकुंदमह, नागमह, यक्षमह, भूतमह, कूपमह, तडागमह, नदीमह हृदमह, पर्वतमह, वृक्षमह, चैत्यमह, स्तूपमह; उग्र, उग्रपुत्र, भोग, भोगपुत्र, राजन्यपुत्र, क्षत्रिय, क्षत्रियपुत्र, भट, भटपुत्र, योध, योधपुत्र, मल्लकी, लिच्छवी आदि शब्दावलि जैनागमों में बारबार दृष्टिगोचर होती है। टीकाटिप्पणियों के आधार से यहाँ कुछ विशिष्ट शब्दों का विवेचन किया जाता है।

(१) ग्राम आदि से संबंधित शब्दावलि

ग्राम—आजकल की भाँति पूर्वकाल में भी लोग गाँवों में ही रहते थे। ये गाँव इतने पासपास थे कि एक गाँव से दूसरे गाँव में मुर्गा भी बड़ी आसानी से पहुँच सकता था। गाँव में कर देना पड़ता था[१]। ग्राम की परिभाषा करते हुए कहा है

---

१ जैनग्रन्थों में अठारह प्रकार के कर बताये हैं। देखिये आवश्यक सूत्रवृत्ति, मलयगिरि, १०८३, पृ० ५९६,

कि जहाँतक गायें चरने जाती हों उस क्षेत्र को ग्राम कहते हैं। अथवा जहाँतक घसियारे, लकड़हारे आदि घास और लकड़ी काटने के लिये जायँ और सूर्यास्त होने तक वापिस आ जायँ उसे ग्राम कहते हैं। अथवा जो चारों ओर से किसी उद्यान, कूप अथवा देवकुल से घिरा हो उसे ग्राम कहते हैं (बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १. १०९४ आदि)। उत्तानमल्लकाकार, अवाङ्मुखमल्लकाकार, संपुटमल्लकाकार, खंडमल्लकाकार आदि अनेक प्रकार के ग्राम बताये गये हैं।

गाँवों में यद्यपि विभिन्न वर्ण और जातियों के लोग रहते थे, लेकिन कभी-कभी कतिपय ग्रामों में मुख्यतया एक ही जाति अथवा पेशेवाले लोग रहा करते थे। उदाहरण के लिये वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर) नगरी तीन भागों में विभक्त थी—बंभण गाम, खत्तिय कुंडग्गाम और वाणिय गाम जिनमें क्रम से ब्राह्मण क्षत्रिय और वणिक लोग निवास करते थे। इसके अतिरिक्त ऐसे ग्रामों का भी उल्लेख आता है जहाँ मयूरपोषक (मयूरों को शिक्षा देनेवाले) अथवा नट लोग रहते थे। चोरपल्लि में चोर रहा करते थे तथा सीमा प्रान्त के ग्राम पच्चन्त गाम (प्रत्यन्त ग्राम) कहे जाते थे।

नगर—उद्योग-धंधों में वृद्धि होने से नगरों का आविर्भाव हुआ। यहाँ किसी प्रकार का कर नहीं लिया जाता था। नगर के चारों ओर चार गोपुर (द्वार) होते थे और यहाँ अनेक शिल्पी रहते थे। जैन ग्रन्थों में दस मुख्य नगर गिनाये गये हैं—राजगृह (राजगिरि), चम्पा (नाथनगर, भागलपुर के पास), मथुरा, वाराणसी (बनारस), श्रावस्ती (सहेट महेट, जिला गोंडा)। साकेत (अयोध्या), कंपिल्ल (कंपिल, जिला फर्रुखाबाद), कोसांबी (कोसम, जिला इलाहाबाद), मिथिला (जनकपुर, नैपाल की सीमा पर), हस्तिनापुर।

निगम अथवा नैगम—जहाँ अधिकतर वैश्य लोग रहते हों।

राजधानी—प्रधान नगर को राजधानी कहते हैं। राजधानी में राजा निवास करता है।

खेट—जिसके चारों ओर मिट्टी का परकोटा बना हो। ये परकोटे पाषाण (जैसे द्वारिका में), ईंट (जैसे आनन्दपुर में), काष्ठ, बाँस और बबूल के काँटों आदि से भी बनाए जाते थे (बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १, पृ० ३५१), अथवा नदी या पर्वत से वेष्टित नगर को खेट कहते हैं (अभिधान राजेन्द्र कोष 'णगर' शब्द)।

कर्बट—छोटा नगर। जहाँ जल और थल से माल भेजने के साधन न हों (दश वैकालिक चूर्णि, पृ० ३६०)। जो चारों ओर से पर्वत से घिरा हो (अभिधान राजेंद्र कोष)।

मडंब—जो स्थान बहुत दूर हो और जिसके चारों ओर पाँच कोस तक कोई ग्राम न हो। व्यवहारभाष्य की टीका (४, पृ० १० अ) में किसी किसी मडंब में अठारह हजार कुल होने का उल्लेख है।

द्रोणमुख—जहाँ जल और स्थल दोनों मार्गों से आवागमन हो सके; जैसे भृगुकच्छ (भड़ौंच), ताम्रलिप्ति (तामलुक, बंगाल)।

पत्तन अथवा पट्टन—जहाँ विविध देशों से माल आता हो। जलपत्तन में नाव आदि द्वारा और स्थलपत्तन में गाड़ी आदि द्वारा माल पहुँचाया जाता है। पुरिम (पुरी) आदि जलपत्तन तथा मथुरा आदि नगर स्थलपत्तन कहे जाते थे।

पुटभेदन—जहाँ देशविदेश से बिक्री के लिये आये हुए कुंकुम आदि के पुट तोड़े जायँ (बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १०९३)। बौद्ध ग्रंथों में पाटलिपुत्र को पुटभेदन का केंद्र कहा गया है।

आकर—जहाँ लोहा, ताँबा, शीशा, चाँदी, सोना, हीरा आदि की खानें हों।

आश्रम—तपस्वियों के रहने का स्थान। और लोग भी यहाँ आकर रहने लगते थे।

निवेश अथवा सन्निवेश—जहाँ सार्थ (कारवाँ) आकर उतरते हों। अथवा जहाँ यात्रा आदि के लिये आये हुए लोगों का पड़ाव हो।

संबाध—पर्वत के मध्यभाग में सुरक्षित स्थान को संबाध कहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर यहाँ किसान और वणिक लोग अपने धनधान्य आदि को सुरक्षित रूप से रखकर निवास करते थे (बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १, १०९२)।

(२) वन आदि से संबंधित शब्दावलि

णिज्जाण—राजा महाराजाओं का क्रीड़ास्थल। यह स्थान नगर के बाहर होता था (निशीथ चूर्णि हस्तलिखित ८, पृ० ४९४।

आराम—माधवीलता आदि के कुंजों में दंपतियों का क्रीड़ास्थान (रायपसेणिय टीका)। इसे तालाब के जल से सींचा जाता था (बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, ४, ४५२२)।

उद्यान—पत्र, पुष्प, फल और छायावाले वृक्षों से शोभित स्थान। यहाँ अनेक नरनारी वस्त्राभूषणों से सज्जित हो अश्व, रथ आदि पर सवार होकर क्रीड़ा के लिये जाते थे और शृंगारिक काव्य पढ़ते थे (अनुयोगद्वारचूर्णि; बृहत्कल्पभाष्य ३, पृ० ८८८)। किसी राजा के सूर्योदय और चन्द्रोदय नामक दो उद्यान थे जहाँ वह अपने अंतःपुर सहित जाकर आमोदप्रमोद करता था (पिंडनिर्युक्ति २१४-५)।

वन—जहाँ एक जाति के वृक्ष हों। वन नगर से दूर होता है।

वनखंड—जहाँ अनेक जाति के वृक्ष हों।

वनराजि—जहाँ एक जाति के तथा अन्य वृक्षों की पंक्ति हों।

कानन—कानन नगर के समीप होते हैं। यहाँ नगर के नरनारी आमोद-प्रमोद के लिये जाते हैं। कानन के उस पार कोई पहाड़ या जंगल रहता है। (अनुयोगद्वारटीका)।

(३) वापी आदि से संबंधित शब्दावलि

वापी—चौकोण तालाब या बावड़ी।

पुष्करिणी—जो कमलों से शोभित हो। नायाधम्मकहा (१३,१७८) में उल्लेख है कि राजगृह के नंद नामक मनियार सेठ ने राजा श्रेणिक (बिंबिसार) की आज्ञा से नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में वैभार पर्वत के पास वास्तुशास्त्रियों द्वारा बताई हुई भूमि पर एक पुष्करिणी खुदवाने का विचार किया। यह पुष्करिणी चौकोण थी, इसके तट सुरम्य थे, इसमें शीतल जल प्रवाहित होता था, कमल लगे हुए थे जिन पर भ्रमर गुंजार करते थे। पुष्करिणी के चारों ओर चार वनखंड थे। पूर्व-वन-खंड में एक सुंदर चित्रसभा थी जो काष्ठ की पुत्तलियों, मालाओं और गुड़ियों आदि से सुशोभित थी। चित्रसभा में बहुत से आसन बिछे हुए थे और नट आदि अपना कौशल दिखाते थे। नगरवासी इन आसनों पर बैठकर संगीत सुनते, नाटक देखते और आमोदप्रमोद में अपना समय व्यतीत करते थे। दक्षिण में एक महानसशाला (रसोईघर) बनवाई गई जहाँ अनेक रसोइये नियुक्त किये गये थे। यहाँ से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि आदि कोई भी निराश होकर नहीं लौटता था। पश्चिम में एक चिकित्साशाला बनाई गई जिसमें अनेक कुशल वैद्य नियुक्त किये गए जो रोगियों और अशक्तों की चिकित्सा करते थे। उत्तर में एक आलंका-

रिक सभा (नाई की दूकान) बनाई गई जहाँ क्षौरकर्म के लिये बहुत से नाई रक्खे गए थे।

सर—स्वयं उद्भूत जलाशय।

सरपंक्ति—श्रेणीबद्ध अनेक जलाशय।

सर सर पंक्ति—जहाँ कपाटसंचार द्वारा एक जलाशय से दूसरे जलाशय में और दूसरे से तीसरे जलाशय में पानी पहुँचता हो (भगवतीटीका)।

अवट—कूँआ।

तड़ाग—खुदवाया हुआ तालाब। भड़ौंच के भूततड़ाग और तोसलि देश के ऋषितड़ाग (इसिताल) का उल्लेख वृहत्कल्पभाष्य (गाथा ४२१८-४२२३) में आता है। इसिताल तड़ाग का उल्लेख खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेखों में किया गया है। स्वर्गीय प्रोफेसर बेनीमाधव बड़ुआ आदि विद्वानों ने इसे इसिवाज पढ़ा था। वास्तव में यह इसिताल है।

द्रह अथवा ह्रद—जिसमें अगाध जल हो (अभिधान चिंतामणि)।

दीर्घिका—सीधे और छोटे जलाशय।

गुंजालिका—दीर्घ, गंभीर और टेढ़े जलाशय (आचारांग २, १-३-५, पृ० ३५० अ)।

(४) पर्वत आदि से संबंधित शब्दावलि

टंक—जिस पर्वत का कोई भाग छिन्न हो।

कूट—नीचे विस्तीर्ण और ऊपर संकीर्ण गोल पर्वत (अभिधानराजेंद्रकोष 'कूड' शब्द)।

शैल—शिखरहीन मुंड पर्वत (भगवतीटीका)

शिखर—शिखरवाला पर्वत।

प्राग्भार—जिस पर्वत के ऊपर का भाग हाथी के गंडस्थल की भाँति आगे को निकल रहा हो (नन्दि चूर्णि, पृ० ५२)

लयन—(मराठी लेण)—पर्वत में खोदकर बनाई हुई गुफा। इसमें कापालिक आदि साधु रहते थे (अनुयोगद्वार टीका)।

उज्झर—पर्वत से बहनेवाला पानी का झरना।

निज्झर—सदा मौजूद रहने वाला झरना (प्रज्ञापना २, ७४ अ)।

पज्झर—जल के झरने का मार्ग विशेष (अभिधानराजेंद्र कोश)।

वप्पिण—खेत।

(५) भवन आदि संबंधी शब्दावलि

अट्टालिका—परकोटे के ऊपर बना हुआ स्थान—अटारी।

चरिका—घर और परकोटे के बीच हाथी आदि के आवागमन के लिये बना हुआ आठ हाथ का मार्ग (अनुयोगटीका)।

गोपुर—द्वार।

प्रासाद—महल। व्यवहारभाष्य (९, ९, गाथा ४६) में चार प्रकार के प्रसादों का उल्लेख है। चक्रवर्तियों के प्रासाद १०८ हाथ ऊँचे, वासुदेवों के ६४ हाथ ऊँचे, मांडविकों के ३२ हाथ ऊँचे, और साधारण लोगों के प्रासाद १६ हाथ ऊँचे होते हैं। प्रासाद और भवन में यह अंतर है कि प्रासाद की ऊँचाई, चौड़ाई की अपेक्षा दुगुनी होती है और भवन की ऊँचाई, उसकी चौड़ाई की अपेक्षा कुछ कम होती है (अभिधानराजेंद्रकोष 'पासाय' शब्द) शीतघर में वर्षाऋतु में वायु का प्रवेश नहीं होता था, ग्रीष्मऋतु में वह ठंढा और शीतऋतु में गरम रहता था। (निशीथ चूर्णि १०, ५५६)।

गृह—सामान्य लोगों के घर।

शरण—घासफूँस के झोंपड़े।

द्वार—तोरण; परिघ (अर्गला)।

(६) मार्ग आदि से संबंधित शब्दावलि

सिंघाडग—सिंघाड़े के समान त्रिकोण मार्ग।

त्रिक—जहाँ तीन रास्ते मिलते हों।

चतुष्क—चौराहा।

चत्वर—जहाँ बहुत से मार्ग मिलते हों।

चतुर्मुख—चार द्वारों वाला देवकुल (मंदिर)।

पथ—मार्ग।

महापथ—राजमार्ग।

शकट—गाड़ी। प्राचीन काल में गाड़ी माल ढोने का मुख्य साधन थी। गाड़ियाँ यानशालाओं में खड़ी की जाती थीं और गाड़ीवान उन्हें चलाने से पहले साफ करके विभूषित करता था। गाड़ियों में बैल जोते जाते थे। पैने सींग होते थे, गले में उनके घंटियाँ बँधी रहती थीं, सूत की रास सोने के तारों से मँढ़ी रहती थी और नील कमलों के कारण वे बड़े सुन्दर मालूम होते थे।

रथ - रथ प्राचीन काल का एक महत्त्वपूर्ण वाहन था। इसमें छत्र, घंटियाँ, ध्वजा और तोरण आदि लगे रहते थे। रथ में घोड़े जोते जाते थे। रथ अनेक प्रकार के होते थे। यानरथ साधारण रथ होता था। संग्रामरथ में बैठने के लिये लकड़ी की एक वेदी बनी रहती है (अनुयोगद्वारटीका। हेमचंद्र ने मरुद्रथ, योग्यारथ, अध्वरथ और कर्णीरथ का उल्लेख किया है। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पास अग्निभीरु नाम का रथ था जो उसके चार रत्नों में गिना जाता था।

यान—गाड़ी।

जुग्ग—गोल्ल देश में प्रसिद्ध दो हाथ प्रमाण की चौकोण वेदी से युक्त पालकी जिसे दो आदमी ढोकर ले जाते हैं (अनुयोगद्वार टीका; मूलाचार टीका ५. १०७)।

गिल्ली—हाथी के ऊपर की अम्बारी जिसमें बैठने से आदमी दिखाई नहीं देता (भगवतीटीका)।

थिल्ली—लाट देश में घोड़े की जीन को थिल्ली कहते हैं (औपपातिकटीका) कहीं दो घोड़ों की गाड़ी को भी थिल्ली कहा जाता था (सूयगडांग पृ० ३३०)।

शिबिका—शिखर के आकार की ढकी हुई पालकी (भगवतीटीका)।

स्यन्दमानी—पुरुषप्रमाण लंबी पालकी (वही)।

(७) आपणशाला आदि से संबंधित शब्दावलि

कुत्रिकापण—जैन टीकाकारों ने कुत्रिकापण शब्द का बड़ा विचित्र अर्थ किया है — कुः इति पृथिव्याः संज्ञा, तस्याः त्रिकं कुत्रिकं — स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणं तस्यापणः हट्टः। अर्थात् जहाँ तीनों लोकों में मनुष्यों के उपभोग के योग्य चेतनअचेतन हर तरह की वस्तु बिकती हों उसे कुत्रिकापण कहते हैं। कहा जाता है कि राजा

चण्ड प्रद्योत के समय उज्जयिनी में नौ कुत्रिकापण थीं (बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, ४२१४-४२२३)।

संभवतः 'कुत्तियावण' किसी द्रविड भाषा का शब्द हो।

कुंभकारों की पाँच शालायें होती थीं—

पणित साला—जहाँ कुम्हार बर्तन बेचते हों,

भाण्डसाला—जहाँ घट पादि सुरक्षित रूप से रक्खे जायँ,

कम्मसाला—जहाँ बर्तन बनाये जायँ,

पचनसाला—जहाँ वर्षा में बर्तन पकाये जायँ,

इन्धणसाला—जहाँ तृण, उपले आदि इकट्ठे किये जायँ — बृहत्कल्प-वृत्ति-गाथा, ३४४५।

कम्मंतसाला—जहाँ उस्तरों आदि पर धार लगाई जाय (निशीथचूर्णि ८, पृ० ४९४)।

गंजसाला—जहाँ धान्य कूटे जाते हों (वही ९, पृ० ५११)

दोसियसाला—कपड़े (दूष्य) की दूकान।

सोत्तियसाला—सूत की दूकान।

गोलियसाला—गुड़ की दूकान।

तेल्लियसाला—तेल की दूकान।

महाणससाला—जहाँ नाना प्रकार के भोजन तैयार होते हों।

पाणागार—शराब की दूकान।

व्याधरणशाला—तोसलि देश में एक शाला में अग्निकुंड बनाया जाता था जिसमें स्वयंवर के लिये सदैव अग्नि प्रज्वलित रहती थी। इस शाला में एक चेटिका (दासकन्या) और बहुत से चेटक (दासपुत्र) प्रवेश कराये जाते थे और जिस चेटक को कन्या पसंद करती उसके साथ उसका विवाह हो जाता था (बृहत्कल्प-भाष्य २. ३४४६)।

हेमचंद्र आचार्य ने और भी अनेक शालाओं का उल्लेख किया है—चंद्रशाला कुप्यशाला, तैलिशाला, सूदशाला, हस्तिशाला, वाजिशाला, गोशाला, चित्रशाला, तन्तुशाला, नापितशाला, शिल्पिशाला, सत्रशाला, पातीयशाला।

(८) नट आदि से संबंधित शब्दावलि

नट—बाजीगर।

नर्तक—नाचने वाले।

जल्ल—रस्सी का खेल करने वाले।

मल्ल—पहलवान; कुश्ती लड़नेवाले।

मुट्ठिय—मुष्टियुद्ध करनेवाले।

वेलंबक—विदूषक।

कहग—कथाकार।

प्लवग—कूदने-फाँदनेवाले।

लासक—रास गानेवाले।

आख्यायक—शुभाशुभ बतानेवाले।

लंख—बाँस के ऊपर चढ़कर खेल करनेवाले।

मंख—चित्र दिखाकर भिक्षा माँगनेवाले।

तूणइल्ल—तूणा बजानेवाले।

तुम्बवीणिय—वीणा बजानेवाले।

तालाचर—ताल देकर खेल दिखानेवाले। (औपपातिक टीका, पृ० ४–५)

(९) राजा आदि से संबंधित शब्दावलि

राजा—राजा, युवराज, अमात्य श्रेष्ठि और पुरोहित ये पाँच प्रधान पुरुष माने जाते थे।

ईश्वर—जो अणिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो।

गणनायक—प्रधान पुरुष।

दण्डनायक—दण्ड देवावाला न्यायाधीश।

तलवर—जिसे राजा ने पट्टबंध से विभूषित किया हो; नगररक्षक, कोटवाल।

माडंबिय—मंडब के नायक।

कौटुंबिक—अनेक कुटुंबों के आश्रयदाता राजसेवक।

मंत्री—जैन ग्रंथों में पाँच प्रकार की राजपरिषदें बताई गई हैं—पूरंती, छत्तंती, बुद्धि, मंत्री और रहस्सिया। प्रासाद से बाहर जाते समय जो राजकर्मचारी

राजा के साथसाथ रहते हों वे पूरंती, और जो राजा के ऊपर छत्र धारण करते हों तथा बाह्य उपस्थानशाला तक जा सकते हों वे छत्तंतीपरिषद् के सदस्य कहे जाते थे। बुद्धिपरिषद् के सदस्य लोक और शास्त्र के पंडित होते थे और वे लोक प्रचलित किंवदंतियों को राजा के पास तक पहुँचाते थे। चौथी मंत्रिपरिषद् थी। मंत्रिगण राजनीति के पंडित होते थे और राजा उनके साथ एकांत में बैठकर मंत्रणा किया करता था। रहस्सियापरिषद् के सदस्य राजा की कुपित रानियों को शांत करते थे तथा उनके ऋतुस्नान की सूचना देते थे। विवाहयोग्य कन्याओं की सूचना देना भी उनका काम था (बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ३६८-३८३)। मंत्रिगण आवश्यकता होने पर राजा को दंडित भी कर सकते थे और कभीकभी तो उनके स्थान पर अन्य राजा को भी नियुक्त करने का भी अधिकार उन्हें प्राप्त था (आवश्यक चूर्णि पृ० ५३४)। राज्य को आंतरिक लड़ाईझगड़ों और शत्रु के आक्रमण से मुक्त करने के लिये वे लोग सूचक, अनुसूचक, प्रतिसूचक और सर्वसूचक नामक गुप्तचरों को नियुक्त करते थे जिनसे उन्हें हर प्रकार की सूचनायें मिलती रहें (व्यवहारभाष्य १, पृ० १३० अ)।

महामंत्री—मंत्रिमंडल का प्रधान मंत्री।

गणक—ज्योतिषी।

अमात्य—जो मंत्री राजा को भी शिक्षा दे सके।

चेट—अंग रक्षक।

इभ्य—जो इतने धन के स्वामी हों जिससे हाथी (इभ) भी ढक जाय।

श्रेष्ठी—जिनके मस्तक पर देवता की मूर्तियुक्त सुवर्णपट्ट बँधा हो।

पुरोहित—धार्मिक और लौकिक मामलों में राजा को सलाह देनेवाले।

सेनापति—चतुरंग सेना का नायक।

सार्थवाह—सार्थ (कारवाँ) का नेता। सार्थवाह धनुर्विद्या में कुशल होता था और वह राज्य का एक मुख्य कर्मचारी समझा जाता था। राजा के आज्ञानुसार वह विविध माल लेकर अनेक व्यापारियों के साथ विदेश यात्राकरता था। विदेश जाने से पहले वह घोषणा करता कि जो लोग उसके साथ चलने को तैयार हों उन्हें अन्नपान, वस्त्रभांड तथा औषधि मुफ्त में दी जायँगी (निशीथ चूर्णि ९, पृ० ५२२; अनुयोगद्वार चूर्णि, पृ० ११; आवश्यक सूत्रटीका (हरिभद्र), पृ० ११४ अ)।

पीठमर्द—राजा का वयस्य।

दूत—राजाज्ञा निवेदन करनेवाला।

संधिपाल—नगररक्षक।

अंतःपुर राजप्रासाद का एक महत्त्वपूर्ण भाग होता था। अंतःपुर में तीन प्रकार की स्त्रियाँ रहती थीं—जीर्ण अंतःपुर में ऐसी स्त्रियाँ रहती थीं जिनका यौवन ढल गया हो, नवान्तःपुर में यौवनवती स्त्रियाँ रहती थीं और कन्यान्तःपुर में अप्राप्त-यौवन कन्याएँ रक्खी जाती थीं (निशीथ चूर्णि ९, पृ० ५०८)। कितनी ही बार राजा लोग दूसरों की सुंदर कन्याओं को बलपूर्वक हरण कर अपने अंतःपुर में रख लेते थे। अपने अंतःपुर से राजा को सदा भय बना रहता था, इसलिये बड़े यत्न से अंतःपुर की रक्षा की जाती थी। वानर आदि कंदर्पबहुल मायावी पशुपक्षियों का अंतःपुर में प्रवेश निषिद्ध था (बृहत्कल्प भाष्य ५, ५९२३)।

कंचुकी—अंतःपुर की रानियों के समाचार को निवेदन करनेवाला।

वर्षधर—अंतःपुर का रक्षक। वह नपुंसक होता था और बचपन से ही उसके दोनों वृषणों को उँगलियों से मलमलकर निःसत्त्व बना दिया जाता था (निशीथ चूर्णि, पृ० ७२९)।

महत्तर—जो अंतःपुर की स्त्रियों को राजा के पास ले जाता है, उनके ऋतु-स्नान करने पर राजा से निवेदन करता है, कुपित होने पर उन्हें प्रसन्न करता है तथा कोप का कोई कारण विदित होने पर राजा से निवेदन करता है (वही, ९ पृ० ५०८)।

दंडधर—हाथ में दंड लेकर अंतःपुर की रक्षा करने वाला।

दंडारक्खिअ—राजा की आज्ञा से किसी स्त्री अथवा पुरुष को अंतःपुर में ले जाने वाला।

दोवारिय—द्वार पर बैठकर अंतःपुर की रक्षा करनेवाला (औपपातिक टीका ७)। जातक ग्रंथों में उल्लेख है कि यदि कोई व्यक्ति कभी अंतःपुर में झाँकने का प्रयत्न करता दोवारिय उसे अपने दंडे से मारता और उसकी गर्दन पकड़कर नीचे गिरा देता।

संस्कृत-व्याकरण में धात्वर्थनिर्देश की प्रणाली

[श्री रामशंकर भट्टाचार्य]

कुछ संस्कृत-वैयाकरणों और निरुक्तकारों के मत से भाषा के शब्दों का मूल धातु है। धातु के स्वरूप तथा अर्थ का ज्ञान भाषा के विशेष ज्ञान के लिये सर्वथा अपरिहार्य है। प्रस्तुत लेख में संस्कृत-वैयाकरणों द्वारा उपदर्शित धातुओं के अर्थ-निर्देश की प्रक्रिया की आलोचना की जायगी। इस आलोचना से पता चलेगा कि संस्कृत-व्याकरण का धात्वर्थ-निर्देश कितना वैज्ञानिक और सूक्ष्मार्थगर्भित तथा शब्दप्रयोग संबंधी रहस्यों से पूर्ण है। संस्कृत की परंपरा में होने के कारण हिंदी-व्याकरण की प्रकृति (मौलिक चिंताधारा) अधिकांश रूप में संस्कृत-वैयाकरणों की चिंतनप्रणाली के अनुसार ही होगी, अतः हिंदी के व्याकरण के लिये भी ऐसी आलोचना की सार्थकता है।

प्रस्तुत आलोचना में मूलतः पाणिनीय संप्रदाय का अनुसरण किया गया है, यद्यपि इसका प्रमाण मिलता है कि पाणिनि के पूर्व आपिशलि आदि आचार्यों ने भी धात्वर्थ-निर्देश किया था।[1] प्राक्पाणिनीय आचार्य काशकृत्स्न का भी धातु-पाठ उपलब्ध है तथा चंद्र आदि के धातुपाठ मिलते ही हैं। पाणिनीय धातुपाठ में जो धात्वर्थ-निर्देश-प्रक्रिया दिखाई पड़ती है, हो सकता है वह पूर्णतः पाणिनि की न हो[2], परंतु धात्वर्थ-निर्देश की सत्यता सूत्रकार मानते अवश्य थे। इन धात्वर्थ-निर्देशों में परस्पर जो भिन्नता, विलक्षणता वा विरोध हैं वे सब सकारण हैं और वे ही हमारी आलोचना के मुख्य विषय हैं।

१—जिनेंद्रबुद्धि ने लिखा है कि पाणिनि के 'अस् भुवि' धातु के स्थान पर आपिशलि का पाठ था 'स भुवि' (१।३।२२ न्यास)।

२—महाभाष्य का टीकाकार कैयट कहता है कि पाणिनि ने अर्थों को छोड़कर केवल धातुओं का पाठ किया था, किंतु अन्य मत यह भी है कि पाणिनि ने अर्थ सहित धातु-निर्देश किया था। प्राचीन काल से जो धातुपाठ चला आ रहा था, सूत्रकार ने उसका संस्कार किया।

सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि धात्वर्थ का स्वरूप क्या है, अर्थात् धातु किस प्रकार के अर्थ को सूचित करती है। काशिकाकार के कथनानुसार पूर्वाचार्य क्रियावाची शब्द को धातु कहते थे, और वही पाणिनि को भी इष्ट है (१।३।१) 'धातुर्हि क्रियावाची', यह उक्ति सभी व्याकरण-संप्रदायों में अत्यंत प्रसिद्ध है। परंतु क्रिया की धात्वर्थता के विषय में कुछ मतभेद भी है। गंभीर अध्ययन से पता चलता है कि क्रिया, भाव, व्यापार, स्पंदन आदि शब्द सर्वथा पर्यायवाची नहीं, वरन् इन शब्दों का कहीं कहीं अपृथक् रूप से व्यवहार मिलता है जिससे प्राचीन शास्त्रवचनों का यथार्थ अर्थबोध दुर्घट हो गया है। अतः यहाँ इस प्रसंग को छोड़कर केवल आचार्यों के धात्वर्थ-निर्देश-संबंधी मतवैचित्र्य पर ही विचार किया जायगा।

धातु नियमतः क्रिया की वाचक है तथा वह अनेकार्थक है—यह एक सार्वभौम सिद्धांत है। पतंजलि ने कहा है--'न चेदं नास्ति बह्वर्था अपि धातवः सन्तीति' (१।३।१), जिससे स्पष्ट है कि धातुएँ अनेकार्थक भी होती है। वस्तुतः ऐसी धातुएं कदाचित् ही मिलती हैं जो एकार्थक हों, और ऐसे स्थलों पर आचार्यों ने स्पष्ट निर्देश भी कर दिया है; 'जैसे कुर्द, खुर्द, गुर्द, गुद क्रीडायामेव।' यहाँ 'एव' पद से स्पष्ट है कि ये धातुएँ केवल एक 'क्रीड़ा' अर्थ की ही वाचक हैं। धातु की अनेकार्थता निरुक्तसंप्रदाय को भी मान्य है।

क्रिया-विभाग-मूलक निर्देश

जब धातु को क्रियावाची माना गया तब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्यों कहीं कहीं धातु के अर्थों में 'गुण' या 'जाति' या 'द्रव्य' का उल्लेख किया गया है। जैसे, 'गडि, वदनैकदेशे' ('गडि' धातु का अर्थ है मुखमंडल का कोई अंश), 'श्विदि श्वैत्ये' ('श्विदि' धातु का अर्थ है श्वेतता)। एकदेश तथा श्वैत्य क्रमशः द्रव्य तथा गुण हैं, अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि 'धातु नियमतः क्रियावाची ही है।' यह एक ऐसा संदेह है जिस पर प्राचीन आचार्यों को भी सोचना पड़ा था।

धातुपाठ में कहा गया है कि 'षिधू' का अर्थ है शास्त्र तथा मांगल्य। यहाँ भी धात्वर्थ 'शास्त्र तथा मांगल्य' क्रिया नहीं हैं। पर प्रसाद टीका में कहा गया है — 'शास्त्रं शास्त्रविषया शासनक्रिया, मांगल्यं मंगलविषया क्रिया लक्ष्यते',

अर्थात् यद्यपि धात्वर्थ में द्रव्य तथा गुण का निर्देश है पर वह तत्संबंधी क्रिया का उपलक्षण है।[३]

आचार्य सायण ने भी इस प्रश्न का उत्तर दिया है। 'श्विदि श्वैत्ये' की व्याख्या में उन्होंने बतलाया है कि यद्यपि श्वैत्य गुण है, किंतु वह साध्य रूप से कहा गया है, और क्रिया का अर्थ ही है साध्य रूप से प्रतीयमान भाव। अतः कोई दोष नहीं है। इससे पता चलता है कि श्वैत्य का तात्पर्य गुण से नहीं, प्रत्युत श्वेतगुणोत्पादक क्रिया से है। यही कारण है कि अन्य धातुपाठों में 'श्वैत्य' के स्थान पर 'श्वेतगुणक्रिया' स्पष्ट लिखा है।

द्रव्यवाची धात्वर्थ के विषय में सायण का कथन है कि जहाँ धातु का अर्थ कोई द्रव्य कहा गया है वहाँ द्रव्य का तात्पर्य द्रव्यनिष्ठ विशिष्ट क्रिया है, द्रव्य की विशिष्ट क्रिया को दिखाने के लिये ही क्रिया के बदले द्रव्य का उल्लेख किया गया है। यथा, 'खर्द, दंदशूके' में 'खर्द' धातु का अर्थ कहा गया है 'दंदशूक' (सर्प)। 'खर्द' का अर्थ दंशन या डँसना न कहकर दंदशूक कहने का अभिप्राय है दंदशूक की विशिष्ट क्रिया — दंशनशीलता को व्यक्त करना। इससे स्पष्ट है कि गुण एवं द्रव्य के द्वारा धातु के अर्थ का निर्देश सर्वथा सकारण है।

गौण तथा मुख्य अर्थ का निर्देश

धातु का कोई अर्थ मुख्य होता है और कोई गौण। क्यों ऐसा होता है, इस पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में विचार किया है (३।२५२-३०७)। यहाँ हम यह मानकर चलते हैं कि किसी न किसी कारण किसी धातु का कोई अर्थ मुख्य या गौण हो सकता है। धात्वर्थ-निर्देश में आचार्यों ने इस तथ्य को माना है और इसके ज्ञापन के लिये एक विचित्र शैली का प्रयोग किया है।

३—प्रसादकार ने इस विषय में किसी प्राचीन आचार्य का वचन भी उद्धृत किया है— 'क्रियैव वाच्या धातूनां कर्तृव्यापार लक्षणा'। यह कारिका कर्म संबंधी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण दृष्टि का संकेत करती है। "फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृतः"—'भूषण' का यह कारिकार्ध भी सूचित करता है कि फल और व्यापार दोनों ही धात्वर्थ होते हैं। जब फल का आश्रय कर्म होता है और व्यापार का आश्रय कर्त्ता तब तो धातु सकर्मक कहा जाता है। परंतु जब फल और व्यापार दोनों कर्तृनिष्ठ होते हैं तब धातु को अकर्मक कहते हैं।

संस्कृत में जब एक धातु के अनेक अर्थ होते हैं तो कभी तो वे समासबद्ध होकर आते हैं और कभी पृथक् रूप में। जैसे समासबद्ध अर्थ 'हन, हिंसागत्योः' ('हन्' का अर्थ है हिंसा और गति); पृथक् अर्थ—'भदि, कल्याणे सुखे च' ('भदि' का अर्थ कल्याण और सुख है)। यह अकारण नहीं है। आचार्य क्षीरस्वामी ने कहा है कि इस प्रकार का निर्देश गौण-मुख्यार्थ-ज्ञापनार्थ है। 'उर्द माने क्रीडायां च' में 'मान' और 'क्रीडा' के पृथक् निर्देश का कारण उन्होंने यह बताया है कि 'मान' मुख्य अर्थ है और 'क्रीड़ा' गौण। ऐसे सैकड़ों उदाहरण धातु पाठ में मिलते हैं।

'हन, हिंसागत्योः' में दोनों अर्थों के समास से ज्ञात होता है कि 'हन्' के दोनों अर्थ 'हिंसा' और 'गति' मुख्य अर्थ हैं और उस समय समान रूप से इन दोनों अर्थों में इसका प्रयोग होता था। परंतु साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने 'गमन अर्थ में हन् का प्रयोग दुष्ट बताया है (कुञ्जं हन्ति कृशोदरी, परिच्छेद ७)। इसका कारण यही हो सकता है कि उनके समय में 'हन्' का गमन अर्थ अप्रचलित हो गया था। पतंजलि के समय में भी आर्य लोग गमन अर्थ में गम् धातु का ही प्रयोग करते थे (गमिमेव तु आर्याः प्रयुञ्जते—पस्पशा०)।

देश-भेद-ज्ञापक अर्थनिर्देश

धातु पाठ में कहा गया है—'भिक्ष, भिक्षायाम् अलाभे लाभे च, क्लेशे च व्यक्तायां वाचि' (भ्वादि)। यहाँ सब अर्थों का न समासबद्ध निर्देश है और न एक ही वाक्य में सब अर्थ दिए गए हैं। इस विचित्र व्यापार के लिये क्षीरस्वामीने उपपत्ति दी है कि ये सब अर्थ भिन्न भिन्न देश में प्रचलित थे, अतः पृथक् वाक्य से सूचित किए गए (क्षीरतरंगिणी)। वस्तुतः यदि धातु देशभेद से नियत हो सकती है (उदाहरण के लिये द्रष्ट० निरुक्त, प्रथम अध्याय) तो धात्वर्थ भी देशभेद से नियत हो ही सकता है।

सामान्यार्थक शब्द द्वारा अर्थनिर्देश

धातु के अर्थनिर्देश में जो क्रियावाचक शब्द प्रयुक्त होता है वह किसी क्रिया सामान्य का वाचक तो होता ही है, परंतु यह भी हो सकता है कि वह किसी क्रिया-विशेष का वाचक हो, यद्यपि उसका निर्देश सामान्य शब्द से किया गया है। इसके

कई कारण हो सकते हैं। हो सकता है किसी समय में वह धातु उस सामान्य अर्थ में ही प्रयुक्त होती थी, पीछे स्वतः विशेष अर्थ में उसकी प्रवृत्ति हो गई, अथवा संभव है कि अर्थनिर्देशक आचार्यों की यह शैली ही थी कि वे सामान्यार्थक शब्द से विशेष क्रिया का निर्देश करते थे (लाघव के लिये), परंपराक्रम से विशेष अर्थ में उसका बोध कर लिया जाता था।

सामान्यार्थक धातु के विशेष अर्थ में प्रयोग का उदाहरण आचार्य शंकर ने दिया है—'कुरु काष्ठानि इत्याहरणे यथा' (विष्णुसहस्रनाम भाष्य, श्लोक ४०)। यहाँ 'कुरु' सामान्य क्रिया से 'आहरण' विशेष क्रिया का अर्थ गृहीत है। इसका कारण चिंत्य है। शंकर के कथन से प्रतीत होता है कि धातु वस्तुतः सामान्यार्थक है, कभी विशेषार्थ में उसका प्रयोग हो जाता है।

धातु पाठ में 'ह्वे' का अर्थ 'स्पर्धा' तथा 'शब्द' है। यहाँ 'शब्द' से साधारण शब्द का नहीं, प्रत्युत आकारणरूप (आकारण = आह्वान) शब्द का ग्रहण है (तत्त्वबोधिनी)। इसी प्रकार 'भ्रमु' का अर्थ 'चलना' है परंतु साधारण चलने के अर्थ में इसका कभी व्यवहार नहीं होता। ज्ञानेंद्र सरस्वती का कहना है 'मंडलाकारेण चलनमेव धात्वर्थः न तु चलन मात्रम्' अर्थात् 'भ्रम' का अर्थ सब प्रकार का चलना नहीं, प्रत्युत 'मंडलाकार चलना' है (तत्त्व०)। यदि प्राचीनतम संस्कृत में भ्रमु का प्रयोग कहीं साधारण चलने के अर्थ में न हो तो मानना पड़ेगा कि यहाँ सामान्य रूप से ही निर्देश किया गया है, यद्यपि तात्पर्य विशेष अर्थ से है।

निरुक्त-टीका में (४।१) आचार्य दुर्ग ने इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है, जो इस प्रकार के धात्वर्थनिर्देश पर विशेष प्रकाश डालती है। उनका कथन है कि निघंटु में १२२ धातुओं का पाठ 'गति' अर्थ में है, पर प्रसिद्धि के कारण उनका प्रयोग द्रव्यों की विशेष प्रकार की गमनक्रिया में ही होता है। जैसे कसति = वक्ष से चलना, लोटते = निम्न प्रदेश से बिना इच्छा के चलना इत्यादि। इस विचित्र व्यवहार की उपपत्ति के लिये उन्होंने युक्ति दी है कि यतः गति = देशांतरप्राप्ति, और यह समान धर्म सभी विशेष अर्थों में है, अतः 'गति' शब्द से उन सबका निर्देश हो सकता है। इसी प्रकार धातुपाठ में कहा गया है—'धोर्ऋ गतिचातुर्ये'। परंतु सायण कहते हैं यह गतिचातुर्य अश्वसंबंधी है (धातुवृत्ति, पृ० १०७)। तब फिर यहाँ अश्व शब्द का उल्लेख क्यों नहीं किया गया? संभव है

अर्थ-निर्देशक के समय में 'घोरुं' का प्रयोग केवल अश्वसंबंधी गतिचातुर्य के लिये ही होता रहा हो, अतः इसका उल्लेख अनावश्यक समझा गया, पर परवर्ती टीकाकार के काल में ऐसी प्रसिद्धि नहीं रही, इससे उसे स्पष्ट करना पड़ा। अथवा पहले इस धातु का अर्थ सामान्य गतिचातुर्य ही था, टीकाकार के काल तक उसका प्रयोग अश्व के संबंध में होने लगा। जब तक साहित्यिक प्रयोगों से इसकी पुष्टि न हो जाय, पूर्वोक्त अनुमान ही दृढ़ रहेगा।

सादृश्यमूलक अर्थनिर्देश

धातुओं के अर्थनिर्देश में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है जिनके अर्थ की सदृशता से अन्य अर्थों का उल्लेख भी व्याख्याकारगण करते हैं। 'फक्क नीचैर्गतौ' इसका प्रकृष्ट उदाहरण है। 'नीचगति' का प्रचलित अर्थ 'मंद गति' है, पर क्षीरस्वामी ने इसका अर्थ 'असद्व्यवहार' भी किया है। हो सकता है, पहले 'फक्क' धातु का प्रयोग मंदगति के ही अर्थ में होता रहा हो, बाद में मंदगति से सादृश्य के कारण उसका अर्थ असद्व्यवहार भी हो गया। इसी प्रकार 'ग्रथि कौटिल्ये' धातु के प्रसंग में धातुवृत्ति में कौटिल्य का अर्थ 'शाठ्य' तथा 'वक्रता' कहा गया है। 'द्रा' धातु का अर्थ धातुपाठ में 'कुत्सित गति' दिया है और सायण ने सूचित किया है कि कुत्सित गति का अर्थ है 'पलायन' और 'स्वाप' (धातुवृत्ति)। कुत्सित गति का पलायन अर्थ तो समझ में आ सकता है, परंतु अगत्यर्थक 'स्वाप' अर्थात् निद्रा भी उससे वाच्य है, इसमें संदेह होना स्वाभाविक है। इसका समाधान यही हो सकता है कि 'स्वाप' चित्तवृत्ति का मानसिक व्यापारों से उपरत होना है, वह भी एक प्रकार का पलायन ही है। सादृश्यसंबंध से मानसिक गति पर भी उसका आरोप कर लिया गया।

असमान अर्थों का एक शब्द से निर्देश

कभी कभी एक ही शब्द द्वारा अनेक धातुओं के अर्थ बताए गए हैं, यद्यपि प्रत्येक स्थल पर उस शब्द के अर्थ में कुछ विलक्षणता दिखाई पड़ती है। धात्वर्थ में व्यवहृत 'कुत्सित शब्द' भी इसका उदाहरण है। कितनी ही धातुओं का अर्थ

'कुत्सित शब्द' कहा गया है, पर प्रत्येक स्थल पर कुत्सित शब्द का तात्पर्य भिन्न भिन्न प्रकार के कुत्सित शब्दों से है। कहीं कहीं 'कुत्सित शब्द' के स्थान पर 'शब्दस्य कुत्सा' भी कहा गया है। जैसे 'कास्' का अर्थ दिया है 'शब्द की कुत्सा' (कासृ शब्दकुत्सायाम्)। यह शब्दकुत्सा 'खाँसना' है। क्षीरस्वामी ने 'शब्द-कुत्सा' की व्याख्या में कहा है—'रोगित्वात्'। इसी प्रकार 'शब्द' शब्द भी कई अर्थों में व्यवहृत हुआ है। 'ध्मा' का अर्थ है 'शब्द', परंतु शंख के शब्द के अतिरिक्त अन्य शब्द के लिये इसका प्रयोग नहीं हो सकता—'शंखं धमतीतिवत् मृदंगं धमतीति प्रयोगो नेत्याहुः' (तत्त्वबोधिनी)। धात्वर्थ-निर्देश में 'अव्यक्त शब्द' का भी इसी भाँति प्रयोग हुआ है। 'कूज', 'गूज' आदि कितनी ही धातुओं का अर्थ 'अव्यक्त शब्द' दिया है, परंतु कूजना और गूँजना भिन्न प्रकार के अव्यक्त शब्द हैं। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

अप्रचलित अर्थ का निर्देश

धातुपाठ की व्याख्या में कुछ शब्दों के ऐसे अर्थ भी व्याख्याकारों ने दिखाए हैं जो आज अप्रचलित हैं। यथा, 'कुथि हिंसासंक्लेशयोः' में 'संक्लेश' का अर्थ बाधा है जो अप्रचलित अर्थ है। 'उर्द माने क्रीडायां च' धातु में 'मान' शब्द का अर्थ सुख है, यह भी अप्रचलित है। 'श्लोक' का अर्थ 'संघात' कहा गया है और टीकाकार 'संघात' का अर्थ 'ग्रंथ' बतलाता है, जो एक असाधारण बात है। यह एक पारिभाषिक प्रक्रिया है, जिसका विचार अन्यत्र किया जायगा।

कभी कभी इस प्रकार का अर्थनिर्देश गूढ़ रहस्य का ज्ञापक भी हो जाता है। धातुपाठ में 'ऋच्छ' का अर्थ दिया है—गति-इंद्रियप्रलय-मूर्ति-भाव। प्रसाद-कार ने 'इंद्रियप्रलय' का अर्थ 'मोह' बताया है। अप्रचलितसा लगने पर भी यह अर्थ असंगत नहीं है। जब तक इन्द्रियप्रलय (इंद्रियस्थ अवधानवृत्ति का स्तंभन) नहीं होगा तब तक मोह नहीं होगा। पर प्रश्न यह है कि 'मोह' शब्द का ही व्यवहार न कर 'इंद्रियप्रलय' क्यों कहा गया? उत्तर हो सकता है—धात्वर्थ-निर्देश के समय इस शब्द का प्रचुर व्यवहार मोह के अर्थ में होता था। परंतु, यदि 'इंद्रियप्रलय' तथा 'मोह' में भेद होना प्रमाणित हो जाय और भिन्न अर्थ में इनका प्रयोग मिल जाय, तब तो यही मानना पड़ेगा कि व्याख्याकार ने

अपने समय में प्रचलित अर्थ को अज्ञता से पूर्व प्रचलित अर्थ का समानार्थक कर दिया है। पर जब तक ऐसा प्रमाण न मिले, पूर्वोक्त अनुमान ही युक्त होगा।[४]

दार्शनिक-प्रक्रिया-मूलक अर्थनिर्देश

धात्वर्थ-विचार में आचार्यों ने कहीं कहीं सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धांत का व्यवहार भी किया है। यथा, प्राचीन वैयाकरणों का कहना था कि सभी गमनार्थक धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती हैं[५] (सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः)। वैयाकरणों का यह सिद्धांत एक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सत्य है। गति और ज्ञान मूलतः अविनाभावी हैं, गति से तमः-संभिन्न होने से ही प्रकाश का उद्घाटन होता है (सांख्यसिद्धांत) जो ज्ञान का स्वरूप है, अतः गत्यर्थक धातु को ज्ञानार्थक माना गया।

इसके साथ दूसरा सिद्धांत है--'जो धातु ज्ञानार्थक है वह प्राप्त्यर्थक है।' ज्ञान एक प्रकार की उपलब्धि है, प्रत्येक ज्ञान के साथ कुछ न कुछ उपलब्धि रहती है, अतः ज्ञानार्थक धातु प्राप्त्यर्थक हो सकती है।

दार्शनिकता के दो असाधारण उदाहरण 'क्षुभ संचलने' तथा 'णश अदर्शने' हैं। स्वामी ने 'संचलन' का अर्थ 'रूपान्यथात्व' (रूप का अन्यथा भाव) बताया है। साधारण दृष्टि से संचलन और रूपान्यथात्व का कोई संबंध प्रतीत नहीं होता, किंतु दार्शनिक दृष्टि से दोनों एकार्थक हैं। बाह्य क्रिया के विभिन्न प्रकार के स्तोक से लाल, नील आदि पृथक् पृथक् रूपों का (सुतरां रूप की सत्ता का) बोध होता है और इस स्तोकशः क्रिया को ही 'संचलन' कहा गया है। यह 'संचलन' एक पारिभाषिक शब्द है।

इसी प्रकार 'णश अदर्शने' न्यायवैशेषिक शास्त्र का अनुसारी है। उनके मतानुसार जब पदार्थ अदृष्ट होता है तब उसका 'नाश' कहा जाता है (सांख्य इस मत को नहीं मानता। उसके अनुसार नाश का अर्थ है 'कारण में लय होना'--

---

४—'इंद्रियप्रलय' तो नहीं, पर 'प्रलय' का उल्लेख 'मोह' से भिन्न अर्थ में अवश्य हुआ है—व्यभिचारी भाव के रूप में (नाट्यशास्त्र, ७।१६५-६)। प्रलय से भी तात्पर्य इंद्रियप्रलय का ही होगा।—संपादक

५—यास्क ने भी कहा है—'विचरन्ति विजानन्ति' (निरुक्त, २।१६)।

नाशः कारण लयः)। धात्वर्थ-निर्देश में इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

धात्वर्थ में विवाद

धात्वर्थ के विषय में कभी कभी विवाद भी दिखाई पड़ता है। वस्तुतः धात्वर्थ का पूर्ण ज्ञान दुष्कर है, इसमें आचार्य पतंजलि प्रमाण हैं—'असंभवः खल्वपि अर्थादेशनस्य; को हि नाम समर्थः धातु-प्रातिपदिक-निपातागमानामर्थान् आदेष्टुम्' (२।१।१ भाष्य), सच कहा जाय तो धात्वर्थ का पूर्णतः नियमन व्याकरण कर ही नहीं सकता।

धात्वर्थसंबंधी विवाद का एक उदाहरण 'यु' धातु है। प्रक्रिया कौमुदी में इसका अर्थ 'मिश्रण' बताया गया है। पाणिनीय संप्रदाय के अन्य ग्रंथ में इसके 'मिश्रण' और 'अमिश्रण' दो अर्थ माने गए हैं--'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। प्रसाद टीका में इसका अर्थ अमिश्रण भी अनुमानित किया गया है। अन्य ग्रंथों में 'यु मिश्रणे अमिश्रणे च' पाठ मिलता है। इस पृथक् निर्देश से सूचित होता है कि दोनों अर्थों का प्रयोग समान रूप से नहीं होता था।

कहीं कहीं यह विवाद एक रहस्य ही रह गया है। जैसे 'शश' धातु का अर्थ 'प्लुत गति' है। टीकाकार कहता है—'शश हिंसायाम् इति केचित्' (प्रसाद टीका)। स्पष्ट है कि 'शश' का अर्थ 'हिंसा' माननेवाला 'प्लुत गति' अर्थ को नहीं मानता था। ऐसे स्थलों पर एक नाम की दो पृथक् धातुओं की सत्ता मानना ही सहज होगा। 'शश' नाम की दो पृथक् धातुओं को एक मानने के कारण ही टीकाकार ने उसके दो भिन्न अर्थों का उल्लेख किया। धात्वर्थ में इस प्रकार के विवाद का समन्वय प्रयोग देखकर ही किया जा सकता है, जैसे कुमारिल ने ठीक ही कहा है—'निगमादिवशात् चात्र धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः' (तंत्रवार्तिक, पृ० १५६)।

धात्वर्थबोध में अन्य भाषाओं के ज्ञान की आवश्यकता

संस्कृत धातुओं की अर्थ-निर्देश-पद्धति की उक्त आलोचना से हम समझ सकते हैं कि इस विषय का गंभीर अध्ययन कर कुछ ऐसे सामान्य सिद्धांत निकाले जा सकते हैं जिनके अनुसार हिंदी की धातुओं का भी अर्थ नियमन किया जा सकता है। परंतु इसके साथ ही हम इस बात पर भी ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं कि संस्कृत की धातुओं का अर्थनिर्देश, जैसा कि हमने उक्त आलोचना

में देखा है, बहुत शिथिलता से किया गया है, जिसके कारण किसी धातु का प्रयोग यथार्थतः किस किया के लिये होता था इसका ज्ञान धातुपाठ से होना दुष्कर है। इसके लिये प्राचीन संस्कृतप्रयोगों का विस्तृत और सूक्ष्म अनुसंधान अत्यंत आवश्यक है। साथ ही भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से काम लेकर संस्कृत का अन्य भाषाओं से तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है। विशेषतः संस्कृत की परंपरा वाली अपभ्रंश भाषाएँ (प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ) इसमें विशेष सहायक हो सकती हैं। आधुनिक भारतीय भाषाओं और बोलियों में संस्कृत की कितनी ही धातुओं के अपभ्रंश रूप अब भी जीवित और व्यवहृत हैं, जिनके आश्रय से हम उन संस्कृत धातुओं का ठीक अर्थ पा सकते हैं। एक आध उदाहरण इसके लिये पर्याप्त होंगे।

धातु पाठ में कहा गया है—'खज मदे' ('खज' धातु का प्रयोग 'मद' के अर्थ में होता है)। राजस्थानी भाषा में इस धातु का प्रयोग ऊँट संबंधी मत्तता के लिये ही होता है। अतः यह अनुमान असंगत नहीं कि मूल धातु का प्रयोग भी साधारण मत्तता के लिये नहीं, प्रत्युत ऊँटसंबंधी मत्तता के लिये ही होता था। इसी प्रकार धातुपाठ में है—'भ्रस्ज पाके'। परंतु पाक या पकाना एक सामान्य किया है। 'भ्रस्ज' सामान्य पकाना नहीं, प्रत्युत 'जल-संयोग-शून्य अग्निस्पर्श', अर्थात् 'भूँजना' (भूनना) जो 'भ्रस्ज' का ही अपभ्रंश है। अपभ्रंश प्रयोगों से संस्कृत धातुओं के अर्थ का अनुमान एक विस्तृत आलोचना का विषय होना उचित है।

चयन

संस्कृत नाटकों में विदूषक — उसका उद्भव

[डा० आर० सी० हाजरा, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट०]

[जर्नल आफ द एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, खंड १६, १९५३, संख्या १ में प्रकाशित 'द विदूषक इन संस्कृत ड्रामाज़—हिज़ ओरिजिन' शीर्षक निबंध का संक्षेप।]

संस्कृतनाटकों के अध्येता के सामने जो बहुत सी उलझनें आती हैं उनमें एक विदूषक के चरित्र की भी है। संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों ने भी इस जटिल प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। कुछ पाश्चात्य विद्वान शूद्र सोमविक्रेता के ऊपर फेंके गए मिट्टी के ढेलों से तथा महाव्रत संस्कार के कथोपकथन में ब्राह्मण छात्र के अश्लील भाषण से विदूषक का आरंभ मानते हैं। उक्त मान्यताएँ उतनी ही भ्रांत हैं जितना कि वह मत जिसमें प्राचीन प्राकृत नाटक में आए काल्पनिक पतित ब्राह्मण से विदूषक का आरंभ माना गया है। वस्तुतः तथ्य यह है कि यह गवेषक संस्कृत नाटकों के रचनाकाल तथा तत्कालीन सामाजिक स्वरूप से शताब्दियों दूर कर दिए गए हैं; अतः विदूषक की उत्पत्ति के संबंध में न तो कोई वास्तविक आधार की बात मिलती है और न परंपरा से ही कुछ ज्ञात हो पाता है। परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर विदूषक को एक ऐसा रूढ़िगत चरित्र मान लिया गया जिसे सुविधा तथा आवश्यकता के अनुसार तोड़ामरोड़ा जा सकता है। कालान्तर में विदूषक की कैसी दुर्गति की गई इसका आभास कुछ ग्रंथों के अनुशीलन से हो सकता है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के प्राचीनतम मान्य ग्रंथ नाट्यशास्त्र में भरत ने विट और विदूषक का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है, परंतु पीठमर्द के विषय में वह बिलकुल मौन हैं। उनके अनुसार विट मधुरप्रकृति, विनम्र तथा पूर्वापर के विचार में विचक्षण और वेश्योपचार कुशल (वारवनिताओं के यहाँ की बोलचाल तथा व्यवहार में चतुर) होने के साथ प्रखर कवि एवं वक्ता भी होता है। उसकी जाति का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है और भरत उसे हीन पात्र की संज्ञा देते हैं।

विदूषक को भरत ने उच्चकोटि का पात्र माना है और उसे धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त आदि चारो प्रकार के नायकों का मित्र कहा है। वह द्विज भी है, फिर भी भरत विशुद्धतः नहीं तो प्रधानतः उसे हास्यपात्र मानते हैं। तीन प्रकारों से वह हास्य का उद्रेक करता है—अंग, वाणी तथा वेशशृंगार के द्वारा। कई स्थानों पर उसके नाटेपन, निकले दाँत, कुबड़ेपन तथा गंजे शिर एवं बेतुके संवाद आदि की चर्चा की गई है। नाट्यशास्त्र में उसे परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रयुक्त 'नर्म सचिव', 'नर्म सुहृद' अथवा 'काम सचिव' आदि नामों से भी पुकारा गया है। भरत को इसका पूरा ध्यान था कि मूर्ख के द्वारा पूर्ण हास्य का निर्वाह असंभव है अतः नाट्यशास्त्र का विदूषक बुद्धिमान, प्रखर तथा प्रत्युत्पन्नमति होता है। इस प्रकार भरत के द्वारा निरूपित विदूषक में एक से अधिक गुणों का मिश्रण होता है। इतना होते उसमें कुछ निम्नस्तर की कलाएँ भी विद्यमान हैं जैसे उसका प्रायः स्त्रियों तथा निम्नस्तर के लोगों में रहना या नायक के प्रणयव्यापारों में सहायता देना आदि।

रुद्रट ने नर्म सचिव के तीन भेद किए हैं—पीठमर्द, विट और विदूषक। वर्तमान अग्निपुराण (प्रायः ९०० ईसवीय) का भी इसमें मतैक्य है।

धनंजय के दशरूपक (प्रायः १००० ईसवीय) के अनुसार नायक के तीन अनुचर होते हैं—पीठमर्द, विट और विदूषक। पीठमर्द, गुणों में कुछ ही न्यून, प्रायः प्रधान नायक के समकक्ष होता है, विट केवल एक गुण से युक्त (एक विद्यो), तथा विदूषक हास्यकर होने के साथ आमोदप्रमोद में नायक का सहायक होता है।

सरस्वतीकंठाभरण (१०३० से १०५० ईसवीय) में भोजदेव ने पीठ मर्द, विदूषक और विट को शकार, ललक तथा चेट के समकक्ष रख कर सभी को हीन पात्र माना है। इस मत से विदूषक केवल हास्यकर तथा नायक का विश्वासभाजन होता है।

रामचंद्र और गुणचंद्र ने अपने नाट्यदर्पण (११०० से ११७५ ई०) में भी विदूषक और विट को शकार और किंकर की श्रेणी में हीनपात्र माना है। वे उन्हें नीच, दुष्ट, आलसी, झगड़ालू, कापुरुष आदि बताते हैं; परंतु विदूषक को इनमें प्रथम स्थान देकर हास्यउत्पादक कहा गया है। रामचंद्र और गुणचंद्र ने विभिन्न

प्रकार के नायकों (धीरोद्धत, धीरललित आदि) के लिए अलग अलग प्रकार के विदूषकों के भी भेद किए हैं। प्रेमी तथा प्रेमिका के बीच झगड़ा (दूषण) उत्पन्न करने के कारण संभवतः उसे विदूषक कहा गया। नाट्यदर्पण के मतानुसार विदूषक नायक के विलासव्यापार में सहायता देने वाला हीनपात्र होते हुए भी मूर्ख नहीं होता।

शारदातनय के भावप्रकाशन (प्रायः ११७५-१२५० ईसवीय) में सचिवों के तीन प्रकार मिलते हैं—धर्मसचिव, अर्थसचिव, कामसचिव। इनमें अंतिम को नायक की विलासचेष्टाओं (शृंगारप्रेक्षया) में सहायक होना चाहिए। शारदातनय के मतानुसार पीठमर्द का स्थान नायक के समीप विशिष्ट आसन पर होता है और उसे विश्वसनीय होने के साथ मानिनियों को मनाने में कुशल होना भी आवश्यक है। विट मधुरप्रकृति, प्रणयशास्त्र का ज्ञाता, विनम्र, विचक्षण तथा विदूषक हास्य का स्रष्टा होता है।

इसी प्रकार नाटकलक्षण कोष, रसमंजरी, रसार्णवसुधाकर, प्रतापरुद्रयशोभूषण, साहित्यदर्पण आदि में विदूषक के चरित्र पर अनेक उल्लेख मिलते हैं। रामायण में भी विदूषक का वर्णन मिलता है। विदूषक ने ही राम को सीता के संबंध में फैले अपवाद की सूचना दी थी। महर्षि वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में अनेक स्थलों पर विदूषक का उल्लेख किया है। वात्स्यायन से तो यह भी पता चलता है कि विलासी नागरकों के यहाँ भी विदूषक होते थे। इससे इस धारणा की पुष्टि होती है कि विदूषक केवल नाटकीय चरित्र ही नहीं था।

उपरोक्त सूत्रों से संकलित विवरण यह इंगित करते हैं कि विदूषक प्रतिष्ठासंपन्न ब्राह्मण होता है तथा राजकुल के नायक को वह मित्र वयस्य) कहकर संबोधन करता तथा उसी प्रकार स्वयं उससे संबोधित होता भी है। संस्कृत आलंकारिकों का विदूषक मिश्रित व्यक्तित्व का पात्र है। मूल में वह सुसंस्कृत, शिक्षित और भोला हास्यकर ब्राह्मण था जो अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान से षड्यंत्रों के समय राजा की रक्षा तथा राजकाज में सहायता भी देता था। इसीलिए भरत ने उसे हीनपात्र नहीं माना और इसीलिए रंगमंच पर नायक के साथ वह बराबरी के स्तर पर ही आता है। पीठमर्द और विट अनेक बार ब्राह्मण होते हुए भी आरंभ से ही चरित्रहीन तथा वेश्याप्रिय होने के कारण आचार्यों द्वारा रंगमंच पर वर्जित किए गए।

यद्यपि भरत ने विदूषक की भाषा (संस्कृत या प्राकृत) की ओर कोई संकेत नहीं किया है; पर ऐसा लगता है कि उसकी भाषा पूर्वीय भारत से ही ली गई थी। चतुर्थ शताब्दी (ई० पू०) से ही पाटलिपुत्र अपने चरम उत्कर्ष पर था और वात्स्यायन के संकेत के अनुसार प्रसिद्ध कामशास्त्री दत्तक ने पाटलिपुत्र की वार-वनिताओं के अनुरोध पर अपना वैशिक खंड लिखा था। अतः यह असंभव नहीं कि भरत के सामने भी पाटलिपुत्र के विदूषक का स्वरूप रहा हो।

तिब्बत में सुरक्षित संस्कृत साहित्य का सांस्कृतिक महत्व

डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर

[अनल्स आफ द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, खंड ३५, १९५४ में प्रकाशित निबंध "कल्चरल इम्पॉर्टेंस आफ संस्कृत लिटरेचर प्रिज़र्व्ड इन टिबेट *"]

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश ईसवीय ६३७-६९३ के बीच हुआ परंतु संघों का निर्माण प्रायः एक शताब्दी पीछे ईसवीय ७५० के लगभग आरंभ हुआ। इसी समय से भारत और तिब्बत का सांस्कृतिक संबंध दृढ़तर होता रहा। तेरहवीं शताब्दी में नालंदा और विक्रमशिला से भाग कर आनेवाले बहुसंख्यक भिक्षु शरणार्थियों का वहाँ स्वागत हुआ। इन भिक्षुओं के साथ तथा इसके पूर्व भी भारत के बहुत से ग्रंथ-रत्न तिब्बत गए। यद्यपि यह अधिकांश ग्रंथ संस्कृत के बौद्धग्रंथ थे परंतु उनके साथ कोष, व्याकरण, साहित्य आदि के ऐसे ग्रंथ भी थे जिनमें बौद्ध और हिंदू का कोई भेद नहीं था। आगे चलकर इन ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद हो गया और ये सभी ग्रंथ केवल वेष्टनों के अधिकारी रह गए। अभी तक तिब्बत से जो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं उनमें बहुत से ऐसे हैं जिनके मूल संस्कृतग्रंथ भारत से लुप्त हो चुके हैं परंतु उनके तिब्बती अनुवाद सुरक्षित हैं। इन ग्रंथों से पुनः अविकल नहीं तो कम से कम निकटतम संस्कृत रूपों का तो पुनर्निर्माण हो ही सकता है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य के जागरूक अध्येता के लिए तिब्बत में सुरक्षित ग्रंथों का सांस्कृतिक महत्व अपार है। कंजुर और तंजुर संग्रहों में तिब्बती अनुवादों के रूप में प्रायः ४५०० संस्कृत ग्रंथ सुरक्षित हैं। जैसा कहा जा चुका है इनमें पाणिनीय उणादि सूत्र, धातुसूत्र, कलाप सूत्र, सारस्वत व्याकरण, चंद्रगोमि व्याकरण आदि भी हैं। काव्यों का प्रसार भी वहाँ कम नहीं हुआ। काव्यादर्श, सुभाषितरत्नकरण्डक, मद्दिरावण

* रामकृष्ण भण्डारकर के २९ वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर २ सितंबर १९५४ को भण्डारकर इंस्टीट्यूट में दिया गया भाषण।

पर एक नाटक भी संगृहीत हैं। बौद्ध भिक्षु चिकित्सा-विज्ञान के प्रति भी उदासीन नहीं थे। एक संघ-चिकित्सालय के अवशेष के मिलने से यह धारणा पुष्ट होती है। इस नाते अष्टांगहृदयसंहिता, रससिद्धिशास्त्र, आयुर्वेदसर्वस्वसंग्रह तथा नागार्जुन-भाषित-भेषज-कल्प आदि अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। शिक्षणशास्त्र के ग्रंथ अध्ययन-पुस्तक-पाठन-क्रियाविधि और गुरु-क्रिया-कर्म जैसे ग्रंथ भी उनमें हैं जो संभवतः भारत से लुप्त हो चुके हैं।

सभी ग्रंथों की चर्चा यहाँ संभव नहीं। इनका महत्त्व इस बात से आँका जा सकता है कि इन संग्रहों में भारत का अमूल्य सांस्कृतिक इतिहास बिखरा पड़ा है। भिक्षुप्रकीर्णक का उल्लेख इस प्रसंग में किया जा सकता है। इससे संघ के जीवन तथा आचार-व्यवहार आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनसे समाजशास्त्र के विद्यार्थी को तत्कालीन सामाजिक अवस्था तथा संघारामों के दूषित वातावरण की झलक भी मिल सकती है।

इस दिशा में श्री राहुल सांकृत्यायन तथा डा० तुशी ने अमूल्य कार्य किया है। इटालियन सरकार ने बहुत बड़ी धनराशियाँ व्यय की हैं। इस ओर भारतीय विद्वानों का तत्काल ध्यान जाना बहुत आवश्यक है। सुगठित संयुक्त उद्योग करके इन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तथा चित्र प्राप्त कर लेने चाहिएँ। इसमें विलम्ब हानिकर हो सकता है।

एक अप्रकाशित शिलालेख

श्री आर० सी० अग्रवाल

[दी जर्नल ऑफ द बिहार रिसर्च सोसायटी, दिसंबर, १९५४]

बंबई प्रांत के गजेटियर, [१ (१) पृष्ठ ४७१ तथा आगे] और एपिग्राफिया इंडिका, ११, (पृष्ठ ५५ तथा आगे) में भीनमाल (प्राचीन श्रीमाल, मारवाड़) से प्राप्त कई लेख संपादित होकर मूल संस्कृत के साथ प्रकाशित हुए। परंतु भीनमाल के वाराह-मंदिर से प्राप्त एक महत्व का लेख डा० डी० आर० भंडारकर तथा श्री जैक्सन की दृष्टि में नहीं आया। सर्वप्रथम 'एनुअल रिपोर्ट ऑफ सरदार म्युजियम ऐंड सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी जोधपुर फार दी इयर एंडिंग ३० सेप्टेंबर १९२२, ५, पृष्ठ ५ पर पंडित बी० एन० रेउ ने उक्त लेख का भावार्थ प्रकाशित किया। इसकी तिथि मंगलवार, आश्विन कृष्ण प्रतिपदा संवत् १३२८ है। इस लेख

में आहुडेश्वर के अर्चन के निमित्त भीनमाल के तत्कालीन शासक चौहान चाचिग देव के कतिपय प्रदानों का उल्लेख किया गया है।

अभिलेख ८ पंक्तियों का है और प्रथम बार प्रकाश में आने वाला उसका अविकल रूप इस प्रकार है —

(१) संवत् १३२८ वर्षे आश्विन वदि १ भौमे अद्येह
(२) श्री श्रीमाले महाराजकुल चाचिगदेव कल्याण वि —
(३) जयराज्ये तन्नियुक्तमहं गजसीह प्रभृति पंचकुल प्र—
(४) तिपत्तौ शासनाक्षराणि प्रयच्छति यथा महाराज कु—
(५) ल श्री चाचिगदेवेन आत्मश्रेयसे श्री आहुडेश्वर
(६) ······ अंगभोग पूजानैवेद्यार्थं श्री ··· ··· ···
(७) ······ यां शासने दिनं दिनं प्रति प्रदत्तं ··· ···
(८) ······ दिनं दिनं आचंन्द्रार्क ··· ··· ···

लेखक के मतानुसार भीनमाल से ६ मील पर स्थित ओडेश्वर नामक शिवमंदिर ही उक्त अभिलेख में आया शिवमंदिर है। इसके नाम के अतिरिक्त वहाँ की जनश्रुति आदि से किसी प्राचीनता का पता नहीं चलता।

तांत्रिक दीक्षा

श्री सूर्यकांत

[अनल्स आफ़ द भण्डारकर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट—खंड ३५, १९५४]

शाक्तों में दीक्षा संबंधी क्रियाएँ बहुत अर्थपूर्ण समझी जाती हैं। शारदातिलक तंत्र (अध्याय ३–५), प्रपंचसार तंत्र (अध्याय ५–६) तथा श्री तत्त्वचिन्तामणि (अध्याय २–५) में इसका विशद वर्णन किया गया है। दीक्षासंस्कार के कुछ आरंभिक कृत्य होते हैं तथा वेदी, कुंड और मंडप आदि की निर्माणविधियों तथा उनकी नापजोख की शुद्धता पर बहुत जोर दिया जाता है। उक्त निबंध में वर्णित दीक्षाविधियों में शारदातिलकतंत्र का अनुसरण मिलेगा।

दीक्षा में सर्वप्रथम वास्तुयाग का विधान है। वास्तु एक राक्षस का नाम था जिसका वध ५३ देवताओं ने मिलकर किया था। इस याग में पूरी विधि तथा नाप की शुद्धता के साथ मंडप का निर्माण करके आर्य, विवस्वान, मित्र आदि ५३ देवताओं के पूजन तथा पायस (चावल की खीर) की बलि देने का विधान है।

इसके उपरान्त निर्दिष्ट विधिविधान के साथ वर्गाकार मंडपनिर्माण का वर्णन किया गया है। दीक्षा के एक सप्ताह पूर्व ही अंकुरायणसंस्कार में एक छोटा मंडप बनाकर उसके अनेक विभागों में आवाहित भूत, पितृ, यक्ष आदि के निमित्त मूंग, तिल, चावल आदि से बलिप्रदान की विधि बताई गई है। इस मंडप के विभागों के नाप आदि ज्यामिति सिद्धांतों के अनुसार विशद रूप से इस निबंध में ही दिए गए हैं।

कुंडनिर्माण में चतुष्कोण, योनि, अर्द्धचंद्राकार, त्रिकोण, वृत्ताकार, षट् कोण, पद्माकार तथा अष्टकोण सब मिलाकर आठ प्रकार के कुंडों के निर्माण की विधि, नाप आदि बताकर स्थंडिलनिर्माण तथा सविवरण दीक्षासंबंधी कर्मकांड का निर्देश किया गया है। दीक्षा के चार प्रकारों यथा क्रियावती, वर्णमयी, कलावती, और वेधमयी, की विधि, काल तथा आवश्यकता आदि का विवेचन भी उक्त निबंध में मिलेगा।

भट्टोजि दीक्षित तथा उनके कुछ परिवारियों का केलदि राजाओं से संपर्क

पी० के० गोडे, एम० ए०, डी० लिट्०

[जर्नल आफ द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, एम० एस० यूनिवर्सिटी, बड़ौदा भाग—४, संख्या, १, सितंबर १६५४]

बनारस के महान् वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित का जीवनकाल प्रायः १५५० और १६३० ईसवीय के बीच रहा है। भट्टोजि का परिवार पांडित्य के लिए प्रसिद्ध था और उसे वर्तमान मैसूर राज्य के शिमोगा जिले के इक्केरी नामक स्थान के केलदि राजाओं से राजमान प्राप्त था। "द कंटैक्ट ऑफ भट्टोजि दीक्षित एंड सम् मेम्बर्स ऑफ् हिज़ फैमिली विद् द केलदि रूलर्स ऑफ इक्केरी बिटवीन सी० ए० डी० १५९२ एंड १६४५" शीर्षक अंगरेजी निबंध में डा० पी० के० गोडे ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि इक्केरी के केलदि राजाओं से भट्टोजि तथा उनके कुछ परिवारियों का संपर्क प्रायः १५९२ और १६४५ के मध्य रहा होगा। इस सबंध में संक्षेपतः उनके प्रमाण इस प्रकार हैं:—

(१) डॉ० ई० हुल्श के अनुसार भट्टोजि दीक्षित ने अपना तत्त्वकौस्तुभ केलदि के वेंकटेंद्र के अनुरोध पर लिखा। श्री स्वेल के मतानुसार केलदि के वेंकटप्पा नायक का काल ईसवीय १६०४ से १६२६ है। प्रमाण में उद्धृत श्लोक का तीसरा चरण "केलदी वेंकटेन्द्रस्य निदेशाद्विदुषां मुदे।" वेंकटेंद्र का उल्लेख करता है।

(२) डॉ० बी० ए० सालेटोरे के मत से "वेंकटेन्द्र" ही वेंकटप्पा नायक प्रथम था जिसके आदेश पर भट्टोजि का तत्त्वकौस्तुभ लिखा गया।

(३) भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट में संग्रहीत एक अपूर्ण हस्तलिखित प्रति में "केलदी वेङ्कटेन्द्रोऽसौ अघोरेश परायणः" तथा " ... ... केलदि वेंकटाभूपेन कारिते ... ... तृतीयः परिच्छेदः" संकेत मिलते हैं।

इस प्रकार कुछ अन्य प्रमाणों के साथ डॉ० गोडे ने अंत में दीक्षितवंश तथा केलदि राजवंश की एक तालिका द्वारा यह मत स्थापित किया है कि भट्टोजि दीक्षित, उनके भाई रंगोजि दीक्षित तथा रंगोजि के पुत्र कोणभट्ट का संबंध वेंकटप्पा नायक तथा उसके पौत्र वीरभद्र से रहा है। वेंकटप्पा की राजसभा में एक माध्व साधु को शास्त्रार्थ में पराजित करके रंगोजि ने पालकी का राजसम्मान प्राप्त किया था।

भट्टो जी दीक्षित के भतीजे कोणभट्ट का काल-निर्णय

पी० के० गोडे, एम० ए०

[ब्रह्मविद्या (दी अडयार लाइब्रेरी बुलेटिन) खंड १८, भाग ३-४, दिसंबर १९५४]

भट्टो जी दीक्षित तथा उनके भतीजे कोणभट्ट का संबंध निश्चित रूप से काशी से रहा है। काशी में दीक्षित का बाड़ा तथा कोणभट्ट का अखाड़ा आज भी विद्यमान हैं। प्रस्तुत अंग्रेजी निबंध में श्री पी० के० गोडे ने कोणभट्ट का कालनिर्णय करने का प्रयास किया है।

कैटेलॉगस कैटेलॉगरम, भाग १, पृष्ठ १३० पर (१) तर्कप्रदीप (२) तर्करत्न (३) न्यायपदार्थ दीपिका (४) वैयाकरणसिद्धान्तभूषण (५) वैयाकरणसिद्धान्तभूषणसार (६) लघुवैयाकरणसिद्धान्तभूषणसार (७) वैयाकरणसिद्धान्तदीपिका (८) स्फोटवाद नामक आठ ग्रंथ कोणभट्ट के गिनाए हैं। इनमें वैयाकरणसिद्धान्तभूषण तथा वैयाकरणसिद्धान्तभूषणसार को श्री पी० के० गोडे ने अपने अन्वेषण का आधार बनाया है। उनके मतानुसार रंगोजिभट्ट के पुत्र कोणभट्ट ने उक्त ग्रंथ की रचना भद्रप्पा नायक के पुत्र तथा बेदनूर के राजा वीरभद्र के अनुरोध पर की थी। वीरभद्र का काल चित्रव शास्त्री के मतानुसार ई० १६२९-१६४५ है। इसके अतिरिक्त लेखक ने विभिन्न हस्त लिखित प्रतियों के काल आदि देते हुए कोणभट्ट का काल ई० १६२९-१६४५ के मध्य ही स्थिर किया है।

निर्देश

भर्तृहरि ऐज् ए मीमांसक—वी० ए० रामस्वामी शास्त्री ; बुलेटिन आफ् द डेक्कन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना; भाग पंद्रह संख्या १, १९५२ [इस निबंध में पाणिनीय व्याकरण के ऊपर पूर्वमीमांसाशास्त्र के नियमानुसार व्याख्याएँ उपस्थित करने के उदाहरणों के आधार पर यह स्थिर किया गया है कि भर्तृहरि मीमांसक भी थे।]

पॉट्स एंड युटेंसिल्स फ्रॉम जैन लिटरेचर—एस० बी० देव, वही. [इस निबंध में पात्र निर्माता की कार्यशाला, निर्माणविधि, पात्रउपकरण (धातुएँ आदि), विभिन्न आकार-प्रकार, विशेष उपयोगों के पात्र, तथा मठों में व्यवहृत होने वाले पात्रों आदि पर विचार किया गया है।]

वाज् महाराणा उदय सिंह ए कावर्ड ?—रामचंद्र जी० तिवारी; जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ पूना संख्या ३, १९५४ [प्रायः सभी इतिहासकारों ने महाराणा उदयसिंह को कायर आदि कह पतित घोषित किया है। इस निबंध में लेखक ने अमरसार, अमरकाव्य, लक्ष्मीनारायण मंदिर-अभिलेख, जगन्नाथ-मंदिर-अभिलेख, राजप्रशस्ति महाकाव्य तथा अन्य शिलालेखों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि महाराणा उदयसिंह वस्तुतः कायर नहीं था।]

डिफरेंट मेथड्स आफ डेट रेकॉर्डिंग इन एंश्यंट ऐंड मेडिवल इंडिया, एंड द ओरिजिन आफ् द शक एरा—एम० एन० साहा; जर्नल आफ् द एशियाटिक सोसायटी, भाग उन्नीस संख्या १, १९५३ [भारती पंचांग (कैलेंडर) विकास, संवत् परिचय, भारतीय संवत्परिचय, तिथि लेखन की कुषाणप्रणाली, प्राचीन शकसंवत् आदि वर्गों के अंतर्गत प्राचीन तथा मध्यकालीन तिथि-लेखन-प्रणाली एवं शक संवत् के उद्भव पर प्रकाश डाला गया है।]

द डेट आफ् खारवेल—श्री कृष्णचंद्र पाणिग्रही, वही। [खारवेल के हाथी-गुंफा अभिलेख के द्वारा खारवेल की तिथि पर पुनर्विचार।]

सम् लॉस्ट उप-पुराणज्—आर० सी० हाज़रा; जर्नल आफ् द एशियाटिक सोसायटी, भाग बीस, संख्या-१, १९५४ [विभिन्न स्थलों पर प्राप्त उद्धरणों एवं उल्लेखों के आधार पर लेखक ने इस संभावना की पुष्टि की है कि कभी बहुत से ऐसे उप-पुराणों का अस्तित्व रहा जिनकी पूर्ण या आंशिक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध नहीं

हुई हैं। जिन पुराणों पर प्रकाश डाला गया है उनके नाम इस प्रकार हैं—आदि पुराण, आदित्य पुराण, आखेटक उपपुराण, आंगिरस उपपुराण, बार्हस्पत्य उपपुराण, बृहदौशनस-उपपुराण बृहद् वामन-पुराण, बृहद्-विष्णुधर्म, बृहद्विष्णु-पुराण, बृहन्नंदिकेश्वर पुराण (उपनाम-बृहन्नंदि पुराण), बृहन्नरसिंह पुराण दौर्वासस उपपुराण (उपनाम—आश्चर्य-उपपुराण?), एकपाद उपपुराण, गरुड़ उपपुराण, कालिका पुराण, कौशिक (या कौशिकी) पुराण, कूर्म-उपपुराण, लघु-भागवत पुराण, लघु ब्रह्मवैवर्त पुराण, लीलावती उपपुराण, माधवी पुराण (?), माघ पुराण, माहेश उपपुराण, मृत्युंजय उपपुराण, नंदिकेश्वर पुराण, उपनाम-नंदी पु०, नंदा पु०, नांद पु०, स्कांद पु०, शौकेय पु० तथा वायवीय पु०), नारदीय उपपुराण, प्रभास पुराण, पुष्कर पुराण, रुद्र पुराण, सौरधर्म सौरधर्मोत्तर, सौर पुराण, सोम पुराण, त्वष्ट्रि पुराण, ऊर्ध्व पुराण, उत्तर सौर, वारुण उपपुराण, वायु उपपुराण, विष्णु धर्मोत्तरामृत, वृद्ध पद्म पुराण तथा यम पुराण।]

एंश्यंट इंडियन ज्यॉग्रफी, एज़ रिवील्ड इन धर्म सूत्रज़—सुरेशचंद्र बनर्जी; इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, खंड तीस संख्या—४, दिसंबर १९५४ [धर्म सूत्रों में तत्कालीन भारत की भौगोलिक सामग्री मिलती है। इस निबंध में उन्हें एकत्र करने का प्रयास किया गया है। भौगोलिक नाम अ-नदियाँ, ब-पर्वत और पहाड़ियाँ तथा स—साधारण स्थान, इन तीन विभागों क्रमबद्ध किए गए हैं तथा लेखक के मत से इस निबंध में आई सामग्री का संकेत दे की ज्यॉग्राफ़िकल डिकशनरी तथा कनिंघम की एंश्यंट ज्यॉग्रफी में नहीं मिलता।]

वैष्णविज़्म—कुंज गोविंद गोस्वामी; इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, खंड तीस, संख्या—४, दिसंबर १९५४। [शुंग काल, शक-कुशाण-काल तथा गुप्त काल में वैष्णवधर्म के स्वरूपों पर विचार किया गया है।]

पज़ेशन हेल्ड फॉर थ्री जनरेशंस बाई पर्सन्स रिलेटेड टु द ओनर - लूडो राशेर; अडयार लाइब्रेरी बुलेटिन, खंड अठारह भाग ३-४। [इसमें यह मत स्थापित किया गया है कि बृहस्पति जैसे धर्मशास्त्रकारों की यह मान्यता है कि तीन पीढ़ियों तक अधिकारारूढ़ रहने पर भी सपिंड को स्वामित्व प्राप्त नहीं होता, जब कि सकुल्यों तथा अन्य लोगों को प्राप्त हो जाता है।]

द थियरी आफ मीनिंग अकॉर्डिंग टु बुद्धिस्ट लॉजिशियंस—के० कुंजुमी राजा, वही। [बौद्ध तार्किकों ने व्याख्या, वाणी, विचार, तथ्य जैसी भाषा वैज्ञानिक समस्याओं पर अपने काल्पनिक ढंग पर विचार किया है। वे संसार को एक सार्वभौम प्रवाह के रूप में ग्रहण करते हैं जिसमें उसके धारणात्मक चित्र का बाह्य जगत से कोई मेल नहीं खाता। इस कारण शब्द के द्वारा निर्मित मानसिक रूपरेखा उसके भौतिक सत्य पर आधारित नहीं होती।]

सुपर्सटीशंस एंड पॉलिटिक्स इन द अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य—रामशरण शर्मा, द जर्नल आफ द बिहार रिसर्च सोसायटी खंड चालीस, भाग-३, सितंबर १९५४। [अर्थशास्त्र के आधार से कौटिलीय राजनीति में अंध विश्वास के समावेशों पर विचार]

डेवलपमेंट आफ द गयावाल—ललिताप्रसाद विद्यार्थी, वही। [विभिन्न सूत्रों पर आधारित 'गयावाल' के विकास का इतिहास।]

द आभीरज्—देयर एण्टीकिटी, हिस्टरी एंड कल्चर—बुद्धप्रकाश, वही। [लेखक के मत से वर्तमान अहीर ही प्राचीन आभीर जाति के प्रतिनिधि हैं। इस दृष्टि से भारत के विभिन्न कोनों में फैली इस जाति की प्राचीनता, इतिहास, संस्कृति तथा उद्यमव्यवसाय आदि पर ऐतिहासिक विवेचन।]

मेथड्स आफ इंक्वायरी इनटू द कॉन्स्टीट्यूशनल टेंपरामेंट्स—यशवंत आर० पंडित; जर्नल आफ द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, एम० एस० यूनिवर्सिटी, बड़ौदा—भाग ४, संख्या १, सितंबर १९५४। [इस निबंध में वाग्भट, चरक, सुश्रुत आदि के मतानुसार वात, पित्त और कफ आदि प्रकृतियों की परीक्षापद्धति का निरूपण किया गया है। प्रत्येक प्रकृति वाले मनुष्य की रूपाकृति, वर्ण, अंगोपांग, शरीरबंध, क्रियाशक्ति, स्वभाव, वृत्तिरुचि, मेधाशक्ति आदि विभागों के अन्तर्गत अनेक उपविभागों के साथ विषय का दिग्दर्शन कराया गया है। अन्त में प्रत्येक प्रकृति के अनुसार लक्षणतालिकाएँ भी दी गई हैं। आयुर्वेद में अनुराग रखने वालों के लिए यह निबंध रुचिकर होगा।]

समीक्षा

भारतीय साहित्यिक इतिहास परक अध्ययन—[स्टडीज़ इन इंडियन लिटरेरी हिस्ट्री] दो भाग; लेखक श्री पी० के० गोडे। प्रकाशक, सिंधी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई। पृष्ठ—भाग १—५४६; भाग २—५४१; मूल्य प्रत्येक भाग का २० रुपये।

श्री परशुराम जी गोडे पूनास्थित भाण्डारकर प्राच्य शोधसंस्थान के संग्रहाध्यक्ष पदपर ३५ वर्षों से कार्य कर रहे हैं। उन्होंने अपने लिए साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मौलिक शोध का शांत और अनुकूल वातावरण बना लिया है। उनके लगभग ४०० लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ३३६ लेखों की एक सूची १९४७ में मुद्रित करा कर विद्वानों को बाँटी भी गई थी। उपयोगी होते हुए भी ये लेख अबतक एकत्र सुलभ न थे। इसी सुविधा के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में ७१ और द्वितीय भाग में ५७ लेख एकत्र मुद्रित किए गए हैं।

ग्रन्थों को देखकर मन पर पहला संस्कार यह होता है मानों हम किसी संग्रहालय की दो वीथियों में विविध युगों से संगृहीत करके एकत्र सजाई हुई विविध शिल्पकृतियाँ देख रहे हैं, और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनसे आनंदलाभ और ज्ञानसंवर्द्धन कर रहे हैं। अधिकांश लेखों का उद्देश्य संस्कृत साहित्य के लेखकों की पहचान और उनके समय की सीमाओं का निर्धारण करना है। संस्कृत साहित्य के इतिहासलेखन के लिये यह सामग्री अति मूल्यवान् कही जा सकती है। इन दोनों जिल्दों में संगृहीत लेखों का संबंध अलंकारशास्त्र, छन्दःशास्त्र, धर्मशास्त्र, इतिहास, जीवनचरित, ज्योतिष, काव्य, कोष, नाटक, आयुर्वेद, दर्शन, व्याकरण, योग आदि विषयों से है।

अलंकारशास्त्र विषयक लेखों में मम्मट और हेमचन्द्र शीर्षक लेख (११४) में इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया गया है कि मम्मट का सर्वप्रथम उद्धरण हेमचंद्र कृत काव्यानुशासन में (११४५ ई० के लगभग) मिलता है। कणे, कीथ, डे आदि ने काव्यप्रकाश का समय ११०० के लगभग माना है, जो इस उल्लेख को देखते हुए यथार्थ जान पड़ता है। लेखक ने अन्यत्र (लेख ११३७ अ) सूचना दी है कि

काव्यप्रकाश की सबसे पुरानी हस्तलिखित-प्रति ११५८ ई० की लिखी हुई जैसलमेर-भण्डार में मिली है। उस समय उत्कृष्ट ग्रंथों का प्रचार एक प्रांत से दूसरे प्रांत में कितनी शीघ्रता से हो जाता था, इसका परिचय इस बात से मिलता है कि कश्मीरी मम्मट कृत काव्यप्रकाश की सबसे पुरानी टीका गुजरात में माणिक्यचन्द्र ने ११६० में लिखी थी। यह सूचना भी रोचक है कि अपने व्याकरण की रचना करने से पूर्व हेमचन्द्र ने स्वयं कश्मीर की यात्रा करके वहाँ के सरस्वती भण्डार से ग्रंथों का संग्रह किया था। लेखक का अनुमान है कि संभवतः हेमचन्द्र मम्मट से, जो आयु में उनसे बड़े थे, साक्षात् भी मिले थे एक लेख में (१।१३) वाग्भटालंकार पर १६२५ ई० में जहाँगीर के समय में लिखी हुई ज्ञानप्रमोद गणि-विनिर्मित टीका का परिचय देते हुए जैन आचार्यों के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। लगभग ८ वीं शती से जैन आचार्यों ने संस्कृत साहित्य की जो ध्वजा उठा ली थी, उसे वे एक सहस्र वर्षों तक नवीन ग्रन्थों की रचना द्वारा यशस्वी बनाते रहे। लेख १।२२ में ९ वीं शती के विद्वान् जयदेव कृत एक नवीन छन्दशास्त्र का परिचय दिया गया है, जिसका प्रमाण अभिनव गुप्त ने अपने नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव भारती में १००० ई० के लगभग दिया है। यह जयदेव गीतगोविन्द के रचयिता कवि से भिन्न थे। लेख १।७१ में अनन्त विरचित कामसमूह नामक एक नए काव्य का परिचय दिया गया है, जिसकी प्रति भण्डारकर इन्स्टीच्यूट में सुरक्षित है।

छन्दः शास्त्र विषयक लेखों में वृत्तरत्नाकर के रचयिता केदारभट्ट का समय १२९७ ई० से पूर्व सिद्ध किया गया है (१।२५) और फिर दूसरे प्रमाणों के आधार पर इस तिथि को और पीछे हटाकर १००० ई० तक ले जाया गया है (१।२६)। छन्दः शास्त्र के प्रियग्रन्थ छन्दोमञ्जरी के लेखक गंगादास के विषय में भी मूल्यवान् सूचनाएँ संगृहीत की गई हैं और उनका समय १३०० से १५०० के भीतर निश्चित किया गया है (१।६७)।

संस्कृत कोषों के संबंध में ६ लेख हैं। मध्यकालीन कोषों का साहित्य अत्यन्त विशाल है और अर्थों के क्षेत्र में संस्कृत का जो विकास ७ वीं शती से १६ वीं शती तक हुआ था, उसकी बहुमूल्य सामग्री इस साहित्य में सुरक्षित है जिस पर विशेष छानबीन की आवश्यकता है। अपभ्रंश और लोकभाषाओं का उदय इसी बीच में हुआ और लोक में समुत्पन्न नए-नए अर्थों और शब्दों को भी संस्कृत के लेखक अपनाते रहे एवं इन कोषों में संगृहीत करते रहे। लेख १।९ में श्रीधरसेन कृत

विश्वलोचन कोष के काल-निर्णय (१३५०-१५५०) का प्रयत्न किया गया है। महाक्षपणक कृत अनेकार्थध्वनिमंजरी कोश का समय १० वीं शती बताया गया है (१।१९)। लेख १।३३ में अमरकोष पर सुभूतिचंद्र कृत कविकामधेनु नामक टीका के एक प्राचीन हस्तलेख (११९१ ई०) की ओर ध्यान दिलाया गया है। स्वयं सुभूति चन्द्र का समय १०६२-११७२ के बीच में था (१।३४)। संस्कृत कोशों में मेदिनी बहुत ही महत्त्वपूर्ण रचना है। श्री गोडेजी ने प्रमाणों के आधार पर उसका समय १३ वीं शती (१२७५) निश्चित किया है (१।४३)। कोशरचना की परम्परा कितने अर्वाचीन काल तक चलती रही इसका परिचय विश्वनाथ वैद्य कृत कोशकल्पतरु (१५८०-१६६०) से मिलता है (२।२६)।

कवि, काव्य, नाटक और टीकाओं के विषय में लगभग ३० लेख हैं जो अधिकांशतः कालनिर्णय अथवा कृतियों के परिचय से संबंधित हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ इस प्रकार हैं। संस्कृत में कालिदास के काव्यों पर सैकड़ों टीकाएँ लिखी गईं। उनका तुलनात्मक अध्ययन महाकवि के अर्थों की छानबीन के लिये आवश्यक है। इस प्रसंग में जनार्दनकृत रघुवंश की टीका का परिचय रोचक है, जिसमें कहीं कहीं प्राचीन गुजराती में भी अर्थ दिए गए हैं (१।४६)। काम्पिल्य के चतुर्भुज मिश्र की अमरुशतक पर भावचिन्तामणि नामक टीका का परिचय भी उपयोगी है (१।५२)। महमूद बगेड़ा गुजरात का अतिप्रतापी सुलतान था। मेवाड़ के राणा कुंभा के साथ भी उसकी भिड़न्त हुई थी। उसके राजकवि उदयराज ने राजविनोद नामक एक ऐतिहासिक काव्य की १४५८-१४६९ के बीच रचना की थी। ऐतिहासिक सामग्री के लिये इस काव्य का प्रकाशन होना चाहिए। इसकी एक ही मूल प्रति भण्डारकर इंस्टीच्यूट में सुरक्षित है। इस काव्य में कुल २३४ श्लोक और ७ सर्ग हैं। तीसरे सर्ग (सभा समागम) में महमूद के दरबार में प्रवेश करने और चौथे सर्वावसर नामक सर्ग में दरबार में संमिलित होने वाले राजाओं और लोगों का वर्णन है। ५ वें सर्ग संगीत-रंग प्रसंग में ऐसे अवसर पर होने वाले नित्य गान का वर्णन है। १५ वीं शती में राजसभाओं का जो स्वरूप था, उसका सांस्कृतिक परिचय इस सामग्री से मिलता है जो मुसलमानी इतिहास लेखकों की सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिये सहायक हो सकता है। उस समय दरबार-ए-आम को संस्कृत में सर्वावसर (= सर्वापसरक अर्थात् जहाँ तक सब आ सकें) कहते थे, ऐसा अपराजित पृच्छा एवं भविसयत्त कहा आदि अपभ्रंश काव्यों में भी आया है।

१।५७ लेख में बाण के चण्डीशतक पर धनेश्वर कृत टीका का समय १३०६ ई० निश्चित किया गया है। १।६१ लेख में नैषधीयचरित की लक्ष्मणभट्ट की गूढार्थ प्रकाशिका टीका का परिचय है। अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रसिद्ध टीकाकार राघवभट्ट का समय १४७५ से १५०० के बीच में निश्चित किया गया है (१।६२)। लेख १।६४ के अनुसार रसमंजरी के कर्ता भानुदत्त को १५७२ से पूर्व सिद्ध किया गया है। पुरुषोत्तमकृत भक्तिकल्पलता काव्यमाला में प्रकाशित हो चुकी है, उसका समय १४९५ से कुछ पूर्व था (१।७०)। इससे ज्ञात होता है कि संस्कृत साहित्य में वैष्णव-आंदोलन उससे पूर्व ही आरंभ हो चुका था। लेख २।१० का संबंध संस्कृत के सुभाषित साहित्य से है, जो बहुत ही विस्तृत है। लेख २।११ में रायभट्ट कृत शृङ्गार कल्लोल नामक रीतिकाव्य का परिचय है। हिंदी के रीतिकालीन साहित्य को संस्कृत की पृष्ठभूमि में तुलनात्मक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। इसी प्रकार १५९६ से पूर्व विरचित रामकविकृत शृंगारालाप नामक एक बृहत् सुभाषित् ग्रंथ का परिचय दिया गया है। गीतगोविंद पर भगवद्दासकृत रसकदम्बकल्लोलिनी टीका (१५५०-१६००) (२।१९), सुबंधुकृत वासवदत्ता की वासुदेव कृत भुवनचन्द्रिका नाम की टीका (२।२४), मणिरामकृत श्लोकसंग्रह (२।२९), जयपुर के महाराज रामसिंह के राजकवि विश्वनाथ महादेव रानाडे कृत शृंगारवापिका नाटिका (२।३४) जिसमें जयपुर का राजवंश वर्ण्य विषय है, लेख महत्त्वपूर्ण हैं। लेख २।४१ में चिमनीचरित का, जिसकी रचना भट्टोजि दीक्षित के एक शिष्य ने की थी, परिचय दिया गया है। नीलकण्ठ शुक्ल नामक इस शिष्य ने १६३७ में शब्दशोभा नामक व्याकरणग्रंथ की रचना की थी, और उसीने १६५६ में यह काव्य बनाया, जिसमें चिमनी नामक एक मुसलिमयुवती के दयादेव शर्मा नामक तरुण ब्राह्मण पण्डित से प्रेम का वर्णन है। गोडेजी ने सिद्ध किया है कि अल्लावर्दी खाँ तुर्कमान शाहजहाँ की सभा का एक सदस्य था। उसके बड़े भाई की पुत्री का नाम चिमनी था। उसीके प्रेम की यह कथा है। इस अल्लावर्दी खाँ ने दयादेव को राजकुमारी की शिक्षा के लिये नियत किया था। यह अमीर संस्कृत का प्रेमी था। एक अन्य सूचना से ज्ञात होता है कि संभवतः इसी अल्लावर्दी ने मिताक्षरा का फारसी अनुवाद पंडित लालबिहारी से १६५७में कराया था।

नाटक संबंधी लेखों में हेमचंद्र के शिष्य रामचंद्र कृत नाट्यदर्पण (११५०-११७०) (१।६), सागर नन्दिन् कृत नाटकलक्षणरत्नकोश (=१।८) मालतीमाधव के प्रसिद्ध टीकाकार जगद्धर (१३८०-१४००), (१।५४-५५), ये उपयोगी हैं।

शाक्तधर्म के अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथ कालिकापुराण का समय एक सहस्र ईस्वी से पूर्व सिद्ध किया गया है जो उस पुराण की सामग्री के कालनिर्धारण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। महाभारत के टीकाकार विमलबोध का समय ११५० के लगभग बताया गया है (१।४८)। महाभारत के टीकाकार शीर्षक लेख (१।५९) में कई नए नामों का उल्लेख है, जो श्री सुकथनकर की २२ टीकाकारों की सूची में भी अविदित थे। महाभारत के एक टीकाकार आनंदपूर्ण उपनाम विद्यासागर का परिचय एवं नीलकण्ठ चतुर्धर का परिचय (२।५५-५६) शीर्षक लेख भी इस संबंध की बहुत सी नई सामग्री प्रस्तुत करते हैं (१।६६)। भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामी (१३५०-१४५०) वाला लेख भी महत्त्वपूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है (२।२२)।

अन्य फुटकर लेखों में निम्न लिखित उल्लेखनीय हैं। भट्टोजिदीक्षित का कालनिर्णय (२।१२), लोलिम्बराज और उनके ग्रंथ (२।१४), खारणादि न्यास नामक प्राचीन आयुर्वेदग्रंथ का परिचय (१।२०-२१), कौटिलीय अर्थशास्त्र की टीकाओं के हस्तलेख (१।२३, इसमें योग्घम् कृत नीतिनिर्णीति नामक नई टीका का परिचय है), राजा भोजकृत व्यवहारमंजरी नामक धर्मशास्त्र का एक नवीन ग्रंथ (१।३२), सिद्धराज जयसिंह विनिर्मित पाटन के सिद्धराज सरोवर का परिचय (१।३९), प्राचीन सुगंधियों के विषय में लिखे हुए गंधवाद नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ और उसकी मराठी टीका का परिचय जिसकी एक ही प्रति भण्डारकर इंस्टीट्यूट में सुरक्षित है), हठयोग प्रदीपिका का काल-निर्णय (१३५०-१६५०) (१।५५ अ), उड़ीसा के गजपति प्रताप रुद्रदेव के राजगुरु और मंत्री गोदावर मिश्र (१४९७-१५३९) का परिचय और उनके ग्रंथ इन—लेखों में बहुत सी अतीव उपयोगी सामग्री का संकलन किया गया है। विशेषतः गोदावर मिश्र ने युद्धविद्या के संबंध में हरिहर चतुरंगम् नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा था, जिसकी एक प्रति मद्रास ओरियंटल लाइब्रेरी में सुरक्षित है प्रकाशित किया जाना चाहिए।

आकाश भैरवकल्प नामक अपूर्व ग्रंथ का परिचय पहली बार यहाँ पढ़ने को मिला (२।१७)। यह विजयनगर साम्राज्य के राजकीय जीवन के संबंध में उसी प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करता है, जिस प्रकार की मानसोल्लास में चालुक्य वंशीय राजाओं की सामग्री है। इस ग्रंथ में १३६ पटल या अध्याय और ३९०० श्लोक हैं, फिर भी यह अपूर्ण ही मिला है। इसकी कई खंडित प्रतियाँ तंजोर के सरस्वती-

महाल ग्रंथागार में सुरक्षित हैं। उनकी एक प्रतिलिपि भंडारकर इंस्टीट्यूट के लिये भी कराई गई है। इस ग्रंथ का जितना ही शीघ्र संपादन और प्रकाशन किया जा सके, अच्छा है। रीवां के महाराज विश्वनाथ सिंह के संस्कृत और हिंदी ग्रंथ शीर्षक लेख में (२।३३) उनके संस्कृत और ३५ हिंदी ग्रंथों का परिचय दिया गया है। यह सामग्री हिंदी के इतिहास के लिये महत्त्वपूर्ण है, अतएव रीवाँ के स्थानीय विद्वानों द्वारा अधिक अनुसंधान की अपेक्षा रखती है। बर्नियर और कवींद्राचार्य सरस्वती की मुगल दरबार में उपस्थिति (२।४४) एवं रघुनाथ कृत भोजनकुतूहल ग्रंथका विषय-वर्णन (२।४५) शीर्षक लेख गोडे जी की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक शक्ति का परिचय देते हैं। पहले वे विषय के भीतर पैठकर उस संबंध की समस्त उपलब्ध जानकारी का संचय करके उसपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं और फिर उसे तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। दारा शिकोह ने हिंदू और मुसलमान धर्म और दर्शन के एकत्र तुलनात्मक परिचय के लिये संस्कृत में 'समुद्रसंगम' और फारसी में 'मज्मुल बहरीन' नामक अत्यंत सुंदर और प्रामाणिक ग्रंथ की रचना की थी। संस्कृतग्रंथ का परिचय एक लेख में दिया गया है।

श्री गोडे महोदय ने जो बहुविध सामग्री इन लेखों में प्रस्तुत की है, वह अनुसंधानकर्ता विद्वानों के लिये अपने अपने क्षेत्र में अत्यंत मूल्यवान् सिद्ध होगी, इसमें संदेह नहीं। इन लेखों को पढ़ते हुए एक बात बार बार मन में टकराती है। वह यह कि चार हजार वर्ष के संस्कृत साहित्य का एक बृहत् इतिहास २० भागों में भारतीय विद्वानों को सहयोग पद्धति से तैयार करना चाहिए। ईसा से पूर्व दूसरी सहस्राब्दी का काल वैदिक साहित्य का युग था। उससे बाद ईस्वी पूर्व प्रथम सहस्राब्दी को वेदव्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कौटिल्य, पतंजलि का युग कहा जा सकता है। ईस्वी प्रथम सहस्राब्दी संस्कृत काव्य, नाटक, गद्य, दर्शन आदि के विविध निर्माण का युग था और उसके बाद की सहस्राब्दी मुख्यतः टीकाग्रंथ और निबंधग्रंथों का युग था। गोडे जी ने ग्रंथलेखकों के विषय में कालनिर्णय की जिस पद्धति का आश्रय लिया है, उसकी संभावनाएँ अत्यधिक हैं। किसी एक ग्रंथ में जिन जिन ग्रंथ या ग्रंथकारों का प्रमाण आता है, उनके सूत्रों को जोड़कर समय के पौर्वापर्य का निर्णय करने की इस शैली की वैज्ञानिकता और प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध कही जा सकती है। अपने देश में जैन, बौद्ध, ब्राह्मण सबने धार्मिक भेद-

भाव के बिना संस्कृत भाषा और साहित्य का संवर्द्धन किया। ईस्वी प्रथम सहस्राब्दी में संस्कृत मध्य एशिया से लेकर हिंदेशिया तक के विस्तृत भूखंड में न केवल साहित्यिक भाषा बल्कि विश्वभाषा का गौरव धारण कर रही थी। उसके बाद भी भारतवर्ष में उत्तर-दक्षिण, पश्चिम-पूर्व में सर्वत्र किस प्रकार संस्कृत के स्रोत देश-काल के अनुसार अपना प्रवाह जारी रख सके, इसका कुछ आभास इन लेखों से प्राप्त होता है, किंतु उसका समग्र चित्र तो ऊपर कहे हुए संस्कृत साहित्य के वृहत् इतिहास से ही स्पष्ट हो सकेगा। हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह गोडे जी की भुजाओं में इतनी शक्ति दे कि वे अपने जीवन-काल में इस प्रकार के और भी कितने ही संग्रह तैयार करने में समर्थ हो सकें।

—(डा०) वासुदेव शरण अग्रवाल।

चौलुक्य कुमारपाल

लेखक—श्री लक्ष्मी शंकर व्यास, एम० ए०; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; मूल्य—चार रुपये, पृष्ठ संख्या-२८७

आज भी भारतीय इतिहास की अनेक महान् विभूतियाँ अंधकार के गर्त में विलीन उन श्रमशील एवं प्रतिभाशाली विद्वानों की लेखनी की प्रतीक्षा कर रही हैं जिनके प्रयास से वे प्रकाश में आ सकें। भारत के दीर्घकालीन इतिहास में ऐसे योग्य एवं कुशल शासकों का अभाव नहीं जिन्होंने राजदण्ड धारण कर जनता को सुखी और समृद्ध बनाया, देश का सर्वांगीण विकास किया और विद्या एवं कला को प्रश्रय प्रदान कर सांस्कृतिक समुन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। अमर कीर्ति एवं गौरव के अधिकारी इन्हीं सम्राटों की दीर्घकालीन परम्परा की एक सुंदर लड़ी के रूप में समस्तराजावलीसमलंकृत चौलुक्यकुल-भूषण कुमारपाल का अद्भुत व्यक्तित्व भी दीप्तिमान एवं अलंकृत है। प्रस्तुत ग्रंथ में हिंदी के ख्यातिनामा लेखक एवं पत्रकार तथा इतिहास के उदीयमान विद्वान् ने उसी महान् विभूति का यथातथ्य चित्रण करने का सफल प्रयास किया है। यह गुरुतर कार्य घोर श्रमसाध्य तो है ही जिसके बिना विषय का सफल निर्वाह प्रायः असम्भव ही है, साथ ही इसके निमित्त गम्भीर अध्ययन, चिंतन एवं मनन के साथ परिष्कृत एवं पुष्ट शोधक बुद्धि का मधुर पुट नितांत आवश्यक है। कभी-कभी ऐतिहासिक सामग्री का अभाव या उसमें परस्पर विरोधी तत्व अथवा तथ्यों का अतिरंजित वर्णन सुदूर अतीत का

वास्तविक चित्र अंकित करने में घोर बाधक होता है। प्राचीन इतिहास का पुनर्निर्माण करने वाले विद्वानों के सामने यह सबसे बड़ी कठिनाई है, परंतु समय के प्रवाह एवं अनुसंधानिकों के अध्यवसाय के परिणामस्वरूप जैसे-जैसे नवीन सामग्री प्रकाश में आती जा रही है इतिहास का प्रणयन-कार्य भी उसी अनुपात में सरल होता जा रहा है। हाँ, आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध सामग्री का उपयोग करने के निमित्त इतिहास के नव-चेतना-समन्वित उत्साही विद्वान् अधिकाधिक संख्या में साहित्य-प्रांगण में अवतीर्ण हो अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिये प्रयत्नशील हो सकें।

इस दृष्टि से इतिहास के उदीयमान लेखक श्री लक्ष्मीशंकर व्यास, एम० ए०, का प्रयास सराहनीय है। इन्होंने चौलुक्य-नरेश कुमारपाल के जीवन-चरित तथा बहुमुखी सफलताओं का स्वाभाविक एवं यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण ग्रंथ दस अध्यायों में विभक्त है। इसमें प्रथम अध्याय इतिहास की आवश्यक सामग्री से संबंध रखता है जिसमें तत्कालीन या उससे संबंधित परवर्ती संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य, उत्कीर्ण लेख, स्मारक, मुद्राएँ, विदेशी इतिहासकारों के विवरण आदि का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में चौलुक्य (सोलंकी) वंश की उत्पत्ति एवं इतिहास पर प्रकाश डाला है। इस विषय में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यूरोपीय विद्वानों एवं उनके अनुगामी कुछ भारतीय इतिहासकारों ने एतद्देशीय राजवंशों की उत्पत्ति के विषय में जिन भ्रांत तथा तर्क एवं आधारहीन काल्पनिक सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की है उनका नवीनतम शोध और अनुसंधान के आधार पर निराकरण नितांत आवश्यक है। प्रस्तुत ग्रंथ की सीमित परिधि के भीतर इस विषय का विशद निरूपण तो सम्भव नहीं, परंतु लेखक ने चौलुक्यों की उत्पत्ति संबंधी उपलब्ध सामग्री का उपयोग कर सामान्यरूप से इस जटिल विषय का सफल प्रतिपादन किया है। तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम अध्याय क्रमशः कुमारपाल के प्रारंभिक जीवन और शिक्षा-दीक्षा, राज्याभिषेक तथा साम्राज्य विस्तार से संबंध रखते हैं। इन प्रथम दो अध्यायों में उसके प्रारंभिक जीवन के चढ़ाव और उतार तथा उससे सम्बद्ध कठिनाइयों और उनके परिहारार्थ तत्कालीन समृद्धिशाली एवं साधन और सत्ता-संपन्न जैन परिवारों से प्राप्त सहायता का उल्लेख हुआ है और साथ ही यह भी बतलाया गया है कि प्रसिद्ध जैनाचार्य और मनीषी हेमप्रभ सूरि के अलौकिक व्यक्तित्व एवं उत्साहवर्द्धक भविष्यवाणी से राजत्व की प्राप्ति में उसे

कहाँ तक प्रेरणा प्राप्त हुई। उसका सैनिक अभियान एवं साम्राज्यविस्तार तो सफलता की एक रोचक कहानी है जिसमें साहस, शक्ति एवं समर-कुशलता पुंजीभूत हो उठी हैं। इस कार्य में उसने चिर अतृप्त अभिलाषाओं की पूर्ति के निमित्त रक्त-रंजित आक्रामक नीति का नहीं, अपितु वंशमर्यादा के रक्षार्थ मान्य एवं सम्मानित रक्षात्मक नीति का ही अवलंबन लिया था। छठें से लेकर नवें अध्याय तक लेखक ने चौलुक्य राजनीति एवं शासनव्यवस्था तथा गुर्जरदेश की सांस्कृतिक उन्नति का सुंदर वर्णन किया है। इसमें सब से महत्वपूर्ण बात तो यह है कि कुमारपाल के सहिष्णु शासनकाल में गुजरात में जैन एवं शैव धर्मों में मधुर समन्वय स्थापित हुआ और उसने दोनों ही संप्रदायों के अनुयायियों को प्रभूत दान एवं राजाश्रय प्रदान कर उभय वर्गों के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त किया। अंतिम अध्याय में कुमारपाल के कार्यों एवं सफलताओं का मूल्यांकन किया गया है।

श्री व्यास जी ने वर्षों की लगन, उत्साह, अध्यवसाय एवं परिश्रम के साथ, अनुसंधानकार्य करते हुए, प्रस्तुत ग्रंथ की रचना कर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है और आशा है कि विद्वन्मंडली द्वारा यह ग्रंथ समुचित रूप से समादृत होगा। यह बात दूसरी है कि लेखक के सभी विचार एवं निष्कर्ष सर्वमान्य न हों, परंतु इससे प्रस्तुत पुस्तक की उपादेयता कदापि कम नहीं होती। वस्तुतः इसके द्वारा व्यास जी ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत के एक सुंदर पृष्ठ का उद्घाटन किया है जो एतद्विषयक साहित्यसेवियों एवं विद्वानों के लिये तो लाभप्रद होगा ही, साथ ही साधारण पाठकों के लिये भी यह पूर्ण रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकेगा। लेखक ने ग्रंथ की आंतरिक सजावट का तो, जो पुस्तक का प्राण है, सफल प्रयास किया ही है, साथ ही उसके वाह्य सौंदर्य की वृद्धि के निमित्त उसे अनेक सुंदर एवं कलात्मक चित्रों से भी विभूषित किया है जो पूर्ण रूपेण सुसंस्कृत एवं परिष्कृत रुचि के परिचायक हैं। हम श्री व्यास जी को उनकी सर्वांगीण सफलता पर साधुवाद देते हैं, और साहित्यसेवा के क्षेत्र में उनकी अधिकाधिक सफलता की कामना करते हैं।

—(डा०) रामवृक्ष सिंह

शिक्षा की समस्या—लेखक महात्मा गांधी, प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृ० संख्या ४८८, मूल्य ३)

गांधी जी के शिक्षासंबंधी विचार दो ग्रंथों में संकलित किये गये हैं—(१) सच्ची शिक्षा, जिसमें गांधी जी ने शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा की है।

दूसरी पुस्तक यही है। इसमें शिक्षा के क्षेत्र में जो वर्त्तमान समस्याएं हैं, उनको हल करने के उपाय बताए गये हैं। यह पुस्तक पाँच खंडों में विभाजित है। पहले भाग में वर्त्तमान शिक्षा का स्वरूप बतलाया गया है और बताया गया है कि भारतीयों को क्यों असहयोग करना चाहिए। दूसरे भाग में अंग्रेजी शिक्षा की जगह कैसी राष्ट्रीय शिक्षा होनी चाहिए, उसका प्रबन्ध कैसे किया जाय, इसका विवेचन किया गया है। गांधी जी ने सदा हरिजनों की शिक्षा को महत्व दिया, उसपर विचार तीसरे खंड में किया गया है। चौथे और पाँचवें भाग में समस्या का हल और, जिसे वर्धायोजना की संज्ञा दी जाती है, उसके सिद्धांत बताए गये हैं।

प्रथम खंड में पंद्रह अध्याय हैं जिनमें वर्त्तमान शिक्षा, शिक्षा में असहयोग, असहयोग और पढ़ाई, असहयोग सफल हुआ या असफल, सूत के धागे से स्वराज्य और वर्त्तमान शिक्षापद्धति और चरित्र आदि बातों पर विचार किया गया है। अंग्रेजों द्वारा प्रचलित शिक्षा पद्धति की गांधी जी ने हर स्थान पर कड़ी आलोचना की है। अंग्रेजी शिक्षा का अर्थ किताबों की शिक्षा, ऊँचे वर्ग के लोगों की शिक्षा, आराम से जीवननिर्वाह की शिक्षा और धनप्रतिष्ठा को बनाए रखना, यही हमने समझा है। इससे भारत का उपकार नहीं हुआ, अपितु अपकार हुआ है और अब भी हो रहा है। इसके विपरीत अपने हर भाषण में गांधी जी ने शिक्षा का अर्थ बताया, नया स्वरूप दिया है। उन्होंने बताया है कि शिक्षा का अर्थ चरित्र की उन्नति, कुशलता की पराकाष्ठा, सेवा का आनन्द और धर्मनिष्ठा का समभाव होना है। गांधी जी की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य स्वराज्य प्राप्त करना था, किताबों का ज्ञान प्राप्त करना नहीं। अक्षरज्ञान के बिना काम चल ही नहीं सकता है, ऐसी बात नहीं। आज भी दुनिया का बहुत बड़ा भाग पढ़ालिखा नहीं है, पर वह जड़ नहीं है। उनका कहना था कि यदि स्वतंत्रता की लड़ाई जारी रहने तक बच्चे बिना पढ़ाई के रह जायँगे, तो उससे हानि नहीं होगी उन्हें और जनता दोनों को लाभ होगा। इसलिए उन्होंने चरखे को बहुत महत्व दिया है, इससे स्वराज्य मिलना आसान हो जायगा। गरीब लोगों की आर्थिक अवस्था ठीक होगी, अंग्रेज लोगों को व्यापार में हानि होगी क्योंकि विदेश से ६० करोड़ का कपड़ा प्रतिवर्ष भारत आता था। और इस अवस्था में स्वराज्य प्राप्त करना आसान हो जायगा।

द्वितीय खंड में छब्बीस अध्याय हैं। इसमें शिक्षा कैसी होनी चाहिए, राष्ट्रीय शिक्षासंस्थाएं, प्राथमिक शिक्षा, शिक्षा और छुआछूत, 'केरियर' और विद्या, विद्या-

पीठ की सफलता और उनका काम आदि बातों पर विचार किया गया है। प्राथमिक शिक्षा में पाठ्य पुस्तकों का ढेर देखकर गांधी जी को बड़ा दुख हुआ था। वे लिखते हैं "दो स्कूलों का मुकाबला कीजिए एक वह जिसमें शिक्षकों के पास बहुतसी पढ़ाई की किताबें हों, और दूसरी वह जिसमें शिक्षक एक भी पाठ्यपुस्तक रखे बिना काम करते हों। दोनों ही शिक्षकों में जौहर है। जिनके पास पाठ्यपुस्तक नहीं है, वे बच्चों को जितना दे सकेंगे, उतना पाठ्यपुस्तक वाले नहीं दे सकेंगे। मैं लड़कों के आगे पाठ्यपुस्तकें नहीं रखना चाहता। शिक्षकों को खुद उन्हें पढ़ना हो तो वे भले ही पढ़ें।" राष्ट्रीय शिक्षा की मर्यादा के बारे में गांधी जी लिखते हैं "विद्यालय में खूब विद्या प्राप्त की हो, अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान हो, संस्कृत का इतना बढ़िया उच्चारण करते हों कि काशी के पंडित भी शिर झुकावें, तो भी इसमें कुछ नहीं रखा। यहाँ तो तुम्हें ये चीजें मिलेंगी नहीं। कोई न कोई अलौकिक चीजें लेनी हैं। दूसरी सब चीजों से ये ऊपर हैं। ये चीजें हैं चरखा, अछूत से मिलना, और हिंदू-मुसलमान और पारसी कौमों की एकता कायम करना।" आजकल नित्य ही सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, उसके बारे में गांधी जी के विचार सुनने योग्य हैं, वे लिखते हैं "आजकल किताबी ज्ञान का प्रचार बहुत बढ़ गया है। जिसकी भाषा जरा भी मँजी हुई है, जिसने थोड़ा बहुत भी विचार किया है, वह अपने विचार प्रगट करने को अधीर बन जाता है और यह समझता है कि उन विचारों के प्रगट करने से देशसेवा होती है। नतीजा यह होता है कि विद्यार्थियों के दिमाग पर, माँ-बाप के जेब पर असह्य बोझ पड़ता है।" किसी ने गांधी जी से कहा कि चरखा-शास्त्र में रस नहीं है। गांधीजी ने उत्तर दिया "शास्त्र मात्र दिलचस्प होता है। यह कहने वाला कि फलाँ शास्त्र में रस है और दूसरों में नहीं, शास्त्र का अर्थ नहीं जानता।"

तीसरे और चौथे खंड प्रथम दो खंडों की तुलना में बहुत छोटे हैं। तीसरे खंड में हरिजनों की शिक्षा, आदर्श हरिजनशिक्षक और हरिजनछात्रालय आदि पर विचार किया गया है, इसमें कुल छः अध्याय हैं। चौथे खंड में आठ अध्याय हैं इनमें शिक्षा की समस्या, शरीर श्रम का गौरव, विद्यार्थियों की परेशानी, निरक्षरी बालशिक्षा आदि बातों पर विचार किया गया है। चरखे के बारे में गांधी जी लिखते हैं "शराब के नशे से चरखे का नशा कम नहीं है। जिसे यह नशा लगा है, वही इसका असर जानता है। फर्क यही है कि एक मारता है, दूसरा जिलाता है।"

पाँचवें खंड में वर्धा-योजना पर विचार किया गया है इसमें अठारह अध्याय हैं। वर्धा-योजना के पूर्व भारतीय अंग्रेजी शिक्षा में पलकर नैतिकता को छोड़कर भौतिकतावादी हो रहे थे। इसके बारे में गांधीजी ने कहा था कि "मैंने आजतक हिंदुस्तान को जो बहुत सी चीजें दी हैं, उनसब में शिक्षा की यह योजना और पद्धति सबसे बड़ी चीज है, और मैं नहीं मानता कि इससे ज्यादा अच्छी कोई चीज मैं देश को दे सकूँगा।"

अन्त में परिशिष्ट जोड़ दिया गया है। इसमें नौ अध्याय हैं। पुस्तक अवश्य ही पढ़ने और संग्रह के योग्य है।

—कृष्णदेव प्रसाद गौड़

आदर्श भाषण-कला—पृष्ठ संख्या ४३१, मूल्य ७॥) रुपए, डिमाइ अठपेजी आकार, न्यूज़प्रिंट कागज, आकर्षक वेष्टन। लेखक—श्री यज्ञदत्त शर्मा। प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, दिल्ली।

लेखक ने यद्यपि परिश्रम बहुत किया है किन्तु सिद्धांतप्रतिपादन भी अत्यंत शिथिल है तथा भाषण के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे सभी अत्यन्त प्रभावहीन, असंबद्ध और असंगत हैं। भाषणकला पर जो अनेक अच्छे अच्छे ग्रंथ विदेशी भाषाओं में लिखे हुए हैं उनका प्रयोग भी यदि लेखक ने किया होता तो इतना निराशाजनक परिणाम न होता।

भाषण के चार अंग व्यापक रूप से माने जाते हैं—खड़े होने का ढंग (पौश्चर), मुखमुद्रा (जैश्चर), भाषण-शैली (डिलवरी), भाषाशैली (डिक्शन)। किन्तु इस ग्रंथ में इनमें से किसी की भी न तो उचित व्याख्या की गई न विस्तार। भाषण के भी जो उदाहरण दिये गये हैं वे अत्यन्त निम्नकोटि के तथा प्रभावहीन हैं। एक संबोधन का उदाहरण लीजिये —

सादर सभापति महोदय !

उपस्थित सज्जनों तथा महिलाओ !

सभापति के विशेषण के रूप में 'सादर' और 'देवियों' के बदले 'महिलाओं' कितना अशोभन है।

'लेनिन' पर आपके भाषण की भूमिका देखिए—

"आज के भाषण का विषय रूस में जनक्रान्ति के अग्रदूत महान् लेनिन की जीवनी है, जिसने मानव जाति के इतिहास में एक युग परिवर्तित किया। लेनिन सोवियत जनता के महान् नेता और शिक्षक थे। सोवियत-संघ की कम्युनिस्ट पार्टी और प्रथम समाजवादी मजदूर राज्य की आपने स्थापना की। महान् लेनिन का पूरा नाम व्लादीमीर इलिच लेनिन था। लेनिन की मृत्यु हुए लगभग तीस वर्ष हो चुके हैं।'

कहिए, यह भाषण है या नानी-दादी की कहानी।

ऐसी दरिद्र पुस्तक का मूल्य ७।।) रु० ? यदि अच्छी पुस्तक भी होती तब भी उसका मूल्य ४।) रु० से अधिक नहीं होना चाहिए था। प्रकाशक को अधिकारी और अनधिकारी का ध्यान करके पुस्तक लिखवानी चाहिये।

—'नीर क्षीर-विवेकी'

भौतिक रसायन की रूप-रेखा—लेखक—डा० रामचरण मेहरोत्रा; प्रकाशक—उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य संमेलन, प्रयाग; पृष्ठ ४१०, मूल्य साढ़े—सात रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में भौतिक रसायन के मौलिक तत्वों और नियमों का सरल और सुबोध भाषा में विशद् वर्णन है। रासायनिक गणनाओं के सरल उदाहरणों से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इससे रसायन के विद्यार्थियों को लाभ होगा खास तौर से ऐसे विद्यार्थियों को जो विदेशी भाषा की बाधा से शास्त्र के मूल को नहीं पकड़ पाते। इस पुस्तक से 'व्यावहारिक रूप में शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने में सहायता' अवश्य मिलेगी। लेखक को उनकी मनोकामना की सिद्धि पर बधाई है!

जिस परिपाटी से यह पुस्तक लिखी गई है, यदि वह पहले व्यापकरूप से स्वीकृत की जाती तो अब तक हिन्दी माध्यम का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया होता। पर कुछ अवैज्ञानिक महापुरुषों की कृपा से पारिभाषिक के संबंध में ऐसा विवाद खड़ा हुआ जिससे हिन्दी और विज्ञान, दोनों को हानि पहुँची। अब, जब इस पुस्तक की रचना में श्री टण्डन जी की प्रेरणा प्रत्यक्ष है, हिन्दी जगत को निःसंकोचभाव से इस परिपाटी का अनुमोदन करना चाहिए।

इस उपयोगी कृति में कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं जिनकी ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। परमाणुरचना का अध्याय केवल रासायनिक दृष्टि से लिखा गया है, इसीलिए बोर-परमाणु का विवरण बहुत ही संक्षिप्त हो गया है। भौतिक रसायन की दृष्टि से ऐसा नहीं होना चाहिए। परमाणु के एलक्ट्रोन-प्रबंध के प्रसंग में पोली के 'व्यतिरेकन्याय' (Exclusion Principle) की चर्चा न करना विद्यार्थियों को विज्ञान की एक बड़ी ही विचक्षण कृति से वंचित करना है। सरल स्पेक्ट्रस्कोपी पर, खास तौर से अणु स्पेक्ट्रस्कोपी पर एक स्वतन्त्र अध्याय होना चाहिए। यह ऐसा क्षेत्र है जहाँ आगे चलकर भौतिक रसायन और भौतिक विज्ञान एक हो जाते हैं। पुस्तक में इस मुख्य और रोचक विषय का अभाव खटकता है।

कुछ विषयों की यथार्थ अभिव्यञ्जना में लेखक असावधान से जान पड़ते हैं। वैज्ञानिक पाठ्यपुस्तकों में ऐसी असावधानी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उदाहरण में नीचे के उद्धरण दिए जा सकते हैं:—

पृ० ५—' ···अर्थात् विभिन्न मात्राओं में एक सरल अनुपात होता है।'

यहाँ 'सरल अनुपात' स्पष्ट नहीं है। ३ और ४ का अनुपात भी सरल माना जा सकता है; पर यहाँ तात्पर्य है 'छोटे पूर्णांक वाले अनुपात' से।

पृ० ५३--'ऋणाणु का व्यास परमाणु-केन्द्र के व्यास से बड़ा होता है।' 'बड़ा' नहीं होता, दोनों के व्यास एक ही अनुमान के होते हैं। फिर नए सिद्धांत के अनुसार तो एलेक्ट्रोन का व्यास अनिश्चित है। न्यूक्लियस में एलेक्ट्रोन के न रहने के अनेक कारण हैं जिनमें से एक का संबंध इसके तरंग-मान से है, इसके व्यास से नहीं।

पृ० ५७—'स्तर के अनुसार ४ भेद और किए गए हैं ···' प्रत्येक स्तर के चार ही भेद नहीं होते। सिद्धांत में स्तर का जो क्रमांक होगा, उसके उतने ही भेद होंगे।

पृ० ७०—'गामा किरणें केन्द्र से स्वतः नहीं निकलतीं वरन जब बीटा-किरणें द्रव्य से टकराती हैं तो इनकी उत्पत्ति होती है।' लेखक का संकेत किस द्रव्य की ओर है? बीटा-किरणें द्रव्य-परमाणु के न्यूक्लियस तक पहुँच भी नहीं पातीं। गामा किरणें न्यूक्लियस से स्वतः ही निकलती हैं। इसकी प्रक्रिया ऐसी है—बीटा किरण

के न्यूक्लियस से निकलने पर वह उत्तेजित हो उठता है और तत्काल ही गामा-किरण फेंक कर साम्य की नई दशा प्राप्त करता है।

कुछ भाषा की भूलों के भी नमूने दिए जा सकते हैं, जैसे :—

पृ० १५—'उस पर केवल एक प्रकार का आवेश प्रतीत होगा और भिन्न आवेशों के तत्वों के परमाणुओं के संयोग से यौगिक के अणु बनते हैं।' यहाँ 'और' का प्रयोग अशुद्ध है।

पृ० ३४—'भाप को कठिनाई से विभाजित करता है।'—इस वाक्य का अर्थ दुर्बोध है। 'कठिनाई' शब्द का व्यवहार अनुचित है।

पृ० ३८—'यूरेनियमोत्तर (Transuranic) तत्व पुकारा जाता है।'—यहाँ 'पुकारा' अंग्रेजी 'कॉल्ड' का अनुवाद है जो हिंदी मुहाविरे में नहीं पाया जाता।

पृ० ६८—'…आयनीकरण (ionisation) करते हैं।'- यह संस्कृत शब्दों की व्युत्पत्ति को बिना समझे प्रयोग करने का परिणाम है।

इस पुस्तक में आनेवाले पारिभाषिकों पर थोड़ा विचार अप्रासंगिक न होगा।

Electron—ऋणाणु।

'ऋणाणु' का अंग्रेजी में सीधा अर्थ है 'निगेटिव मोलिक्यूल' जिसे 'आयन' भी कह सकते हैं। यह एलेक्ट्रोन से सर्वथा भिन्न है। फिर दो 'ण' का साथ-साथ अस्तित्व उच्चारण को शिथिल बना देता है। न्यूट्रोन, प्रोटोन आदि का अंगीकार और एलेक्ट्रोन का बहिष्कार प्रमाद सा ही प्रतीत होता है।

Nucleus—केन्द्र।

'केंद्र ज्यामिति का एक बहुत ही प्रचलित पारिभाषिक है। यह विस्तारहीन बिंदु और न्यूक्लियस में विस्तार है। फिर प्रत्येक परमाणु का केंद्र होता है जिसका स्थान न्यूक्लियस से भिन्न भी हो सकता है। इसलिए न्यूक्लियस के लिए केंद्र शब्द का व्यवहार केवल भ्रम ही पैदा कर सकता है। इस युग के सबसे प्रसिद्ध शब्द 'न्यूक्लियस' का त्याग न तो युक्तिसंगत है और न भावसंगत।

Organic—कार्बनिक।

ऑर्गेनिक के लिए कार्बनिक क्यों? एक तो इसमें अव्याप्ति दोष है; दूसरे, इसे स्वदेशी होने का भी दावा नहीं। फिर 'ऑर्गेनिक एसिड' को क्या 'कार्बनिक

अम्ल' कहेंगे ? 'आर्गेनिक' और 'अनार्गेनिक' के बदले 'कार्बनिक' और 'अकार्बनिक' रखना अनावश्यक आग्रह है। ऐसा ही आग्रह है तत्वों के संकेत नागरी अक्षरों में रखना और रासायनिक समीकरणों को उन्हीं संकेतों में व्यक्त करना। उस भविष्य की कल्पना नहीं की जा सकती जब हमारे विद्यार्थियों को रोमन अक्षरों का भी ज्ञान नहीं रहेगा।

एलिप्स, पेराबोला आदि के लिए भी दीर्घवृत्त, परवलय आदि जैसे निरर्थक शब्द गढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। जो शब्द विज्ञान के अपने हैं, किसी भी देश की प्रचलित भाषा में जिनका अस्तित्व नहीं, उन्हें ज्यों-के-त्यों ले लेने में ही विज्ञान और हिन्दी, दोनों का हित है।

Energy—उर्जा।

'पावर' के लिए 'शक्ति' के सिवा कोई दूसरा शब्द न मिलने से ही 'उर्जा' को ढूँढ निकाला गया है। पर 'पावर' का प्रचार देहातो में भी पाया जाता है। इसलिए 'पावर' के लिए 'पावर' और इनर्जी के लिए 'शक्ति' का व्यवहार ही ठीक है। हाँ, 'कम्बाइनिं पावर' मे आनेवाले 'पावर' के लिए 'क्षमता' उपयुक्त होगा।

Mass—मात्रा।

मात्रा कान्टिटी के लिए रखना चाहिए। 'मास्स' के लिए 'भार' और 'वेट' के लिए तौल ठीक बैठता है। लेखक ने भी 'मास्स स्पेक्ट्रम' का 'भार वर्ण पट' (?) से अनुवाद किया है।

Quantum theory—क्वन्टम-वाद।

'वाद' का प्रयोग अवैज्ञानिक है। इसमें 'डॉग्मा' का भाव है। जिसे विज्ञान में स्थान नहीं। विज्ञान में 'थ्योरी' का अधिकार 'उपपत्ति' तक ही है। इसलिए इसका उपयुक्त पर्याय 'उपपत्ति' है। पर 'सिद्धान्त' अधिक प्रचलित है 'प्रिंसिपुल' के लिए भी 'सिद्धांत' का ही व्यवहार होता है जिसके लिए बहुत ही उपयुक्त शब्द 'न्याय' है।

Endothermic—ताप-शोषक।

Exothermic—ताप-क्षेपक।

ये दोनों शब्द गलत हैं क्योंकि इनका अर्थ होता है 'हीट ऍबज़ॉर्बर' और 'हीटरेडियेटर'। इसलिए इनकी जगह 'अन्तःतापक' और 'बहिःतापक' रखने चाहिएँ।

Reciprocal proportion—व्युत्क्रम अनुपात ।

'रेसिप्रोकल' का अर्थ कहीं 'व्युत्क्रम' भी होता है। पर यहाँ 'परस्परानुपात' ठीक है।

Neutralisation—शिथिलीकरण ।

'शिथिल' का अर्थ है ढीला। यहाँ केवल ढीला करने की प्रक्रिया नहीं है, इसलिए 'स्तम्भन' अधिक उपयुक्त है।

Transitional element—परिवर्तनीय तत्व ।

'परिवर्तनीय' का अर्थ है जिसका परिवर्तन हो सके या होता हो। इसलिए 'ट्रांजिशनल एलिमेंट' का अनुवाद संक्रमण-तत्व' से ही किया जा सकता है।

Typical element—प्रतिनिधि तत्व ।

'लाक्षणिक तत्व' अधिक उपयुक्त जँचता है।

Radio-active—रेडियम धर्मा ।

'रेडियो' से ही 'रेडियम' बना है; इसलिए यह समझना ग़लत है कि 'रेडियो-एक्टिव' का अर्थ है जिसमें रेडियम जैसे गुण हों। यहाँ 'रेडियो चेतन' का व्यवहार अधिक सरल और सार्थक है।

Phase-rule—कला-नियम ।

'फेज़' के अनेक अर्थ हैं। इसके सभी अर्थों को व्यक्त करनेवाला एक शब्द ढूँढ़ निकालना या गढ़ लेना सम्भव नहीं है। इसलिए इसका अनुवाद प्रसंग के अनुसार भिन्न-भिन्न शब्दों से करना चाहिए। यहाँ 'फेज़-रूल' का पर्याय 'दशा-नियम' उपयुक्त है। 'कला' का व्यवहार चन्द्रमा के प्रसंग में ही हो सकता है।

System—मण्डल ।

यहाँ 'मण्डल' से अधिक उपयुक्त 'संस्थान' है।

Affinity—प्रीति ।

'प्रीति' से कहीं अच्छा 'मैत्री' है।

Constituent—घटक ।

'घटक' के बदले 'अवयव' अधिक सुबोध और शास्त्रानुमोदित है। 'घटक' को 'केटलेटिक एजेन्ट' के लिए रख छोड़ना चाहिए।

Continuity of State—अवस्था की अविरतता ।

'अवस्था की अविरतता' का अर्थ होगा एक ही अवस्था का लगातार बना रहना। पर यहाँ तात्पर्य है एक अवस्था का दूसरी में ऐसे क्रमशः परिवर्तन से कि दोनों के बीच कहीं भी सीमा न खींची जा सके। यह अर्थ 'दशा-प्रसक्ति' या 'अवस्था-प्रसक्ति' में व्यक्त होता है। 'अवस्था की निरन्तरता' भी हो सकता है।

Critical—चरम।

'चरम' का अर्थ है 'अन्तिम'। 'क्रिटिकल' का यह अर्थ नहीं है। जैसे, 'क्रिटिकल टेम्परेचर' वह तापक्रम है जिस पर वाष्प गैस में बदल जाता है। इसलिए 'क्रिटिकल' का भाव 'सीमन्त' से अधिक स्पष्ट होता है जिसका अर्थ है माँग या वह रेखा जो दो भागों के बीच हो।

पुस्तक के अंत में पारिभाषिक शब्दावली देना तो आवश्यक ही था, पर हिंदी-अंग्रेजी क्रम के बदले अंग्रेजी हिंदी क्रम देने से इसकी उपयोगिता बहुत कुछ कम हो गई है।

—(प्रो०) ललितकिशोर सिंह

बिजनेस डायरेक्टरी—संपादक, श्री कांतिलाल एन. शाह, प्रकाशक : केट्टी कंपनी, बंबई। पृ० सं० ६३३, मूल्य १२॥) रु०।

प्रस्तुत ग्रंथ में बंबई, सौराष्ट्र, कच्छ, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, कलकत्ता तथा अन्य औद्योगिक क्षेत्रों की प्रमुख व्यापारिक संस्थाओं तथा वस्त्र, बनारसी साड़ी, ताले, ऊनी कपड़े, चमड़े के सामान, पीतल के सामान, चाय, बिजली के सामान, मशीनरी हार्डवेयर आदि के निर्माताओं तथा विक्रेताओं के पते संगृहीत किए गए हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी में डाइरेक्टरी-साहित्य की अत्यंत कमी है। अंग्रेजी भाषा में ऐसे साहित्य की भरमार है। हिंदी में ऐसी पुस्तकें बहुत कम देखने में आती हैं। किसी प्रकाशक के लिए ऐसे भारी भरकम ग्रंथ को प्रकाशित करना एक हिम्मत का कार्य है। केट्टी कंपनी ने इस ग्रंथ का प्रकाशन करके प्रकाशकों का इस दिशा में मार्गप्रदर्शन किया है। एक अहिंदी भाषी प्रांत में ऐसे मोटे हिंदी निर्देशक ग्रंथ का संकलन और मुद्रण एक प्रशंसनीय प्रयास है।

व्यापारजगत में ऐसे ग्रंथों से बड़ी सुविधा रहती है। घर बैठे ही हर क्षेत्रों के पते ज्ञात हो जाते हैं। यद्यपि स्थान संकोच के कारण पूरे पते नहीं दिए जा सके हैं, फिर भी इस ग्रंथ से बहुत सी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आशा है इसके

द्वितीय संस्करण में परिवर्तन और परिवर्द्धन होगा। इस ग्रंथ में बहुतेरी अशुद्धियाँ भी रह गई हैं। लेकिन इन अशुद्धियों के होते भी हम संपादक को अहिंदी भाषी होने के कारण इस प्रयास के लिए धन्यवाद ही देंगे। आशा है भविष्य में वे इसका परिमार्जन करके इस ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे।

—गोविंदप्रसाद केजरीवाल

संक्रामक रोग विज्ञान

लेखक—कविराज बालकराम शुक्ल आयुर्वेदशास्त्राचार्य। प्रकाशक—वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०। प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या १०७६। छपाई-सफाई उत्तम, बढ़िया कागज और सुदृढ़-टिकाऊ जिल्द। मूल्य ६ रु० मात्र।

चिकित्सा क्षेत्र में नवीन विज्ञान का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा है। रोगों का एक से दूसरे में संक्रमण हो सकता है—यह सिद्धांत तो वैदिक साहित्य में भी मिलता है, किंतु संक्रामक रोगों का विधिवत अध्ययन, विशिष्ट रोगोत्पादक जीवाणुओं का विश्लेषण और जीवाणुनाशक तथा रोगशामक रामबाण औषधियों का आविष्कार आधुनिक विज्ञान की बहुत बड़ी देन है। ऐसे उपयोगी विषय का भारतीय राजभाषा के माध्यम से प्रकाशन हिंदी भाषा और नागरी की बहुत बड़ी सेवा है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान लेखक तथा प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक का विषय - प्राचीन एवं नवीन, दोनों चिकित्सा-विज्ञानों का संक्रामक रोग संबंधी विषय भली प्रकार पुस्तक में समाविष्ट किया गया है। रोगनिदान का अंश तो पर्याप्त विस्तार से वर्णित है, किंतु चिकित्सा पर्याप्त विस्तार से नहीं लिखी गई। पाश्चात्य चिकित्सा के बहुत प्राचीन योग एवं क्रम लिखे गए हैं, इधर चिकित्सा में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, उनका अंतर्भाव नहीं किया गया। यत्र-तत्र होमियोपैथी चिकित्सा का भी वर्णन किया गया है। कालज्वर की चिकित्सा में यूरियास्टिबामीन (Urea Stibamin) की मात्रा २½ 'नंबर' से ७.० 'नंबर' तक तथा नियोस्टीबोसन (Neostibosan) की मात्रा १० 'ग्राम' तक देने के लिए कहा है। इसी प्रकार पुनरावर्तक ज्वर में ६ ग्राम नियोसाल्वर्सन (Neosalverson), मंथर ज्वर में २½ रत्ती रसपुष्पा और पेनिसिलिन एवं सल्फोनामाइड के संयुक्त प्रयोग का विधान आदि अनुचित मात्रा या अनुपयुक्त औषधियों का निर्देश ग्रंथ में

बहुत मिलता है। पाश्चात्य औषधियाँ प्रायः मात्राधिक्य होने पर शीघ्र विषाक्त परिणाम कर सकती हैं। चिकित्सा का संबंध मानव जीवन के साथ होने के कारण इस विषय का साहित्य औषधिनिर्देश आदि में त्रुटि रहित रहे, यह बहुत आवश्यक है। हिंदी के पाठकों को पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र विषयक अधिक पुस्तकें पढ़ने को नहीं मिलतीं, अतः केवल मुद्रकों की असावधानी के कारण 'ग्रेन' का 'ग्राम' हो जाने पर भी रोगी का जीवन संकट में पड़ सकता है। विश्वास है, अगले संस्करण में चिकित्सा कुछ अधिक विस्तार से देकर तथा उल्लिखित त्रुटियों का परिमार्जन करके पुस्तक को अधिक व्यवहारोपयोगी बनाया जायगा। पीत ज्वर (Yellow Fever) मरुमक्षिका ज्वर (Sand Fly Fever) आदि व्याधियाँ जो भारतवर्ष में बहुत कम मिलती हैं, उनका केवल निर्देश पर्याप्त होगा, बहुतायत से मिलने वाली व्याधियों का विस्तृत वर्णन होना चाहिए। प्राचीन एवं नवीन चिकित्सा-विज्ञानों का सामंजस्य करना बहुत आसान कार्य नहीं है। किंतु लेखक का इस क्षेत्र का कार्य बहुत सफल हुआ है। प्रायः प्रत्येक रोग के संबंध में संस्कृत श्लोकों में कुछ विषय लिपिबद्ध किए गए हैं। वास्तव में उन श्लोकों से विषय की कोई जानकारी नहीं हो पाती। केवल सुखस्मरण के लिए उनका महत्त्व हो सकता है, किंतु उसके हटा देने पर भी पुस्तक की उपयोगिता में कमी हुए बिना ही उसका कलेवर काफी कम हो जाता।

पारिभाषिक शब्द—नवीन वैज्ञानिक साहित्य के सृजन में पारिभाषिक शब्दों की समस्या बड़ी जटिलता से सामने आती है। संक्रामक रोगों के विषय में 'औपसर्गिक रोग' शीर्षक से श्री भास्कर गोविंद घाणेकर साहब का एक विस्तृत ग्रंथ काफी समय से प्रचलित है। उसके पारिभाषिक शब्द आयुर्वेद जगत में प्रचलित होते जा रहे हैं। 'संक्रामक रोग' के लेखक ने यद्यपि उक्त ग्रंथ से पर्याप्त सहायता ली है, किंतु पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता की उपेक्षा ही की गई है। लेखक ने यथाशक्ति चालू एवं व्यावहारिक शब्द ही रक्खे हैं, सामान्य पाठकों को इससे बड़ी सहूलियत होगी। संक्रमण काल में पारिभाषिक शब्दों की इस प्रकार की विविधता स्वाभाविक ही है।

भाषा—१५-२० वर्ष पहले भाषा की शुद्धता पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा किंतु आज सभी क्षेत्रों में इस ओर उदासीनता है। अहिंदी भाषा-भाषी प्रांतों की जनता में भाषा की त्रुटियों का स्थायी हानिकर परिणाम होगा—इस बात का

ध्यान हिंदी ग्रंथलेखकों को रहना चाहिए। यद्यपि चिकित्सा विज्ञान सदृश विषय में भाषा की अशुद्धियों से विशेष हानि नहीं होती, फिर भी यथाशक्ति 'नागरी' का मान तो रखना ही चाहिए। 'इसका कारण वैज्ञानिकों ने अभी तक सिद्ध नहीं कर पाए हैं, किंतु प्राचीन आयुर्वेद में महर्षियों ने कई सहस्र वर्ष पहले ही इस सिद्धांत को प्रकट कर दिये हैं, जिसको वैज्ञानिकों ने अभी तक सिद्ध नहीं कर पाये हैं'—(पृष्ठ ३५) इस प्रकार के उदाहरण पुस्तक में ढूँढ़ने नहीं पड़ते। विश्वास है, अगले संस्करण में इन सबका परिमार्जन हो जायगा।

प्रस्तुत पुस्तक से भारतीय चिकित्सा विज्ञान का बहुत बड़ा अभाव दूर हो गया है। इस प्रकार के ग्रंथों के लेखन एवं प्रकाशन में बहुत श्रम एवं लागत लगती है। सभी दृष्टियों से लेखक एवं प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं—आयुर्वेद प्रेमियों को ज्ञान संवर्द्धन के लिए ऐसी पुस्तकों का अवश्य संग्रह करना चाहिए।

—(डा०) गंगा सहाय पांडेय

संशोधन

पृष्ठ	२२०–पंक्ति	९ ···	बूड़ य	के लिए	बूड़ न
,,	२२४— ,,	१७ ···	लदं	के लिए	लाँद
,,	२२४— ,,	२० ···	पासछ०	के लिए	पासद०
,,	२२४— ,,	२१ ···	पिंथड	के लिए	पिंधउ
,,	२२७ — ,,	५ ···	मुखारीद	के लिए	मुरवारीद

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५९, सं० २०११

संपादक-मंडल

हजारीप्रसाद द्विवेदी — करुणापति त्रिपाठी

कृष्णानंद (संयोजक)

सहायक

पुरुषोत्तम — राधाविनोद गोस्वामी

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिए प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक मूल्य १०)   इस अंक का ५)

वार्षिक विषयसूची

विमर्श

चयन

समीक्षा

विविध